BAPS (N) 221

लोक नीति की अवधारणा :भारत के विशेष सन्दर्भ में

Concept of Public Policy: with special reference to India

राजनीति विज्ञान विभाग
समाज विज्ञान विद्याशाखा
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

Hello Haldwani हैलो हल्द्वानी

91.2 FM

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

तीनपानी बाईपास मार्ग

ट्रांसपोर्ट नगर के पीछे, हल्द्वानी 263139

नैनीताल, उत्तराखण्ड

Email: info@uou.ac.in; Website: http://uou.ac.in

BAPS (N) 221

लोक नीति की अवधारणा : भारत के विशेष सन्दर्भ में

समाज विज्ञान विद्या शाखा

उत्तराखंड मुक्त विश्वविद्यालय

पाठयक्रम समिति

प्रो. गिरिजा प्रसाद पाण्डे **निदेशक समाज विज्ञान विद्या शाखा,** उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी नैनीताल	**प्रो.एम0एम0 सेमवाल** राजनीति विज्ञान विभाग केन्द्रीय विश्वविद्यालय,गढवाल
प्रो.दुर्गाकान्त चौधरी राजनीति विज्ञान विभाग श्रीदेव सुमन विश्वविद्यालयऋषिकेश परिसर ,, ऋषिकेश	**प्रो सतीश कुमार** राजनीति विज्ञान विभाग इन्दिरा गाँधी मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
डॉ. सूर्य भान सिंह **(विशेष आमंत्रित सदस्य)** एसोसिएट प्रोफेसर राजनीति विज्ञान इलाहबाद विश्वविद्यालय	**डॉ घनश्याम जोशी** असिस्टेंट प्रोफेसर लोक प्रशासन उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी,, नैनीताल
डॉ. लता जोशी असिस्टेंट प्रोफेसर राजनीति विज्ञान (एसी) उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी,, नैनीताल	**डॉ आरूशी** असिस्टेंट प्रोफेसर राजनीति विज्ञान (एसी) उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी,, नैनीताल

पाठ्यक्रम संयोजन एवं सम्पादन

डॉ. घनश्याम जोशी(असिस्टेन्ट प्रोफेसर)
लोक प्रशासन विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, नैनीताल

इकाई लेखक	**इकाई संख्या**
प्रो0 कमल कुमार श्रीवास्तव राजनीति विज्ञान विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ	1, 2, 3
डॉ0 दुर्गा कान्त चौधरी राजकीय स्नात्कोत्तर महाविद्यालय, रूद्रपुर, उत्तराखण्ड	4.5, 6, 7, 8, 9
डॉ0 सूर्यभान सिंह, असिस्टेन्ट प्रोफेसर राजनीति विज्ञान उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, नैनीताल	10. 11
डॉ0 अजित कुमार सिंह आर0 आर0 पी0 जी0 कालेज, अमेठी, उ0प्र0	12, 13
डॉ0 भुवन, राजकीय महाविद्यालय कोटाबाग, उत्तराखण्ड	14

प्रकाशन वर्ष- 2024

कापीराइट @ उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

प्रकाशन- निदेशालय अध्ययन एवं प्रकाशन, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी- 263139

अनुक्रम

लोक नीति की अवधारणा : भारत के विशेष सन्दर्भ में **BAPS(N)- 221**

खण्ड-1 लोक नीति का परिचय		**पृष्ठ संख्या**
1	लोक नीति- अर्थ एवं प्रकृति	1 -9
2	नीति चक्र- नीति निर्माण की बाधाएं	10 – 21
3	लोक नीति के अध्ययन का महत्व : आधुनिक परिदृष्य	22 – 29
खण्ड-2 नीति निर्माण-संरचना और प्रक्रिया- 1		
4	नीति-निर्माण में राजनीतिक कार्यपालिका की भूमिका	30 – 41
5	नीति-निर्माण में अधिकारी तन्त्र की भूमिका	42– 50
6	नीति-निर्माण में विधान मंडल की भूमिका	51 – 60
7	नीति-निर्माण में न्यायपालिका की भूमिका	61 – 70
8	विभिन्न अंगों के बीच अन्त:क्रिया	71 – 79
9	भारत में नीति-निर्माण प्रक्रिया	80 – 89
खण्ड- 4 लोक नीति निर्माण: मुख्य निर्धारक		
10	हित समूह , दबाव समूह एवं नीति-निर्माण	90– 99
11	राजनीतिक दल एवं नीति-निर्माण	100 – 106
खण्ड- 5 नीति निष्पादन		
12	नीति निष्पादन में सरकारी एजेन्सियों की भूमिका	107 – 115
13	नीति निष्पादन में गैर-सरकारी एजेन्सियों की भूमिका	116 – 124
14	नीति निष्पादन की समस्याएं नीति प्रभाव एवं मूल्यांकन	125 –133

इकाई-1 लोक नीति:अर्थ और प्रकृति

इकाई की संरचना

1.0 प्रस्तावना
1.1 उद्देश्य
1.2लोक नीति का महत्व
1.3लोक नीति
    1.3.1लोक नीति का अर्थ
    1.3.2लोक नीति के प्रकार
    1.3.3 नीति तथा प्रशासन
    1.3.4 नीति की अवधारणा
    1.3.5लोक नीति की प्रकृति
1.4 सारांश
1.5 शब्दावली
1.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
1.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
1.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
1.9निबन्धात्मक प्रश्न

1.0 प्रस्तावना

एक अकादमिक धारणा के रूप में 'लोक नीति'1950 के दशक के आरम्भ में उभरकर सामने आयी और तब से इसके साथ नये आयाम जुड़ते चले गये हैंऔर यह सामाजिक विज्ञान की एक शाखा के रूप में मान्यता प्राप्त करने के लिए संघर्ष करती रही है। सरकार के उत्पादों के एक अध्ययन के रूप में, विभिन्न शाखाओं के कई अध्ययन क्रमों- जैसे राजनीति विज्ञान, लोक प्रशासन, अर्थनीति, प्रबन्धन में नीति एक महत्वपूर्ण संघटक की भूमिका निभाती है। विकास इतना तीव्र है कि कई शोधकर्ता, शिक्षक, लोक प्रशासक अब महसूस करने लगे हैं कि यह अधिक से अधिक अनियंत्रणीय होता जा रहा है। इन शाखाओं में पुरानी सीमांकन की रेखा के स्थान पर लोक नीति को सम्मिलित करना आवश्यक हो गया है। इसके अलावाअन्तर-अनुशासनात्मक गुणवत्ता की वजह से लोक नीति का क्षेत्र रोचक एवं विचारोत्तेजक बन जाता है।

'लोक नीति' एक ऐसी धारणा है जो अब काफी लोकप्रिय हो चुकी है। इसका हमारे दैनिक जीवन और हमारे अकादमिक साहित्य में धड़ल्ले से प्रयोग होता है। जहाँ हम अक्सर राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति, नई शिक्षा नीति, वेतन नीति, कृषि नीति, अमेरिकी या फ्रांसीसी विदेश नीति आदि का उल्लेख करते हैं। यह एक ऐसा क्षेत्र है जिसका सम्बन्ध क्षेत्रों से है जो सार्वजनिक माने जाते हैं। लोक नीति की धारणा के तहत माना जाता है कि जीवन का एक प्रभाव क्षेत्र होता है जो निजी या विशुद्ध रूप से वैयक्तिक ना होकर साझा होता है।

अतीत में, लोक नीति सम्बन्धी अध्ययन पर राजनीति विज्ञान के शोधकर्ताओं और विद्यार्थियों का प्रभाव था जो मुख्य रूप से सरकार की संस्थागत संरचना और दार्शनिक औचित्य पर ध्यान केन्द्रित करते थे। नीतियों पर शायद ही ठीक से गौर किया जाता था। राजनीति विज्ञान कुछ हद तक विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं और समूहों की

राजनीतिक शक्ति हासिल करने में सफलता से सम्बन्धित गतिविधियों पर आधारित होता था। उन संगठनों द्वारा मुख्य उद्देश्य के रूप में नीति-निर्माण के क्षेत्र में निभाई गई भूमिका पर शायद ही गौर किया जाता था। अभी भी नीति राजनीतिक प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण तत्व है।

नीति विश्लेषण के एक अग्रणी विद्वान थॉमस गई का कहना है कि ''परम्परागत (राजनीति विज्ञान) अध्ययन उन संस्थाओं की व्याख्या करते हैं, जिनमें लोक नीति संघटित हुई है। लेकिन दुर्भाग्य की बात है कि महत्वपूर्ण संस्थागत व्यवस्थाओं और लोक नीति के सार के बीच सम्पर्कों की खोज नहीं की गई है। वे बाद में उम्मीद जाहिर करते हैं।'' आज राजनीति विज्ञान का रूझान लोक नीति की तरफ बढ़ रहा है, सरकारी गतिविधि के कारणों और परिणामों के विवरण और परिभाषा की तरफ।जिन प्रक्रियाओं के जरिए लोक नीति निर्धारित हुई, उनके प्रति राजनीति विज्ञान का रूझान जहाँ बढ़ा है, वहीं लोक प्रशासन के ज्यादातर विद्यार्थी स्वीकार करेंगे कि लोक सेवक स्वयं नीतियों को आकार देने में गहराई के साथ जुड़े रहे हैं। लोक प्रशासन का अध्ययन अब नीतियों के क्रियान्वयन की मशीनरी पर ध्यान केन्द्रित करने लगा है। इसमें लोक प्राधिकरणों के संगठन, लोक सेवकों के व्यवहार और अधिक से अधिक संसाधन आबंटन की विधि, प्रशासन तथा समीक्षा को सम्मिलित किया जा रहा है। एक ऐसी अभिवृत्ति के साथ नीति के संघटन के तरीकों का निर्धारण कर पाना काफी कठिन है, हालांकि सामान्यता माना जाता है कि नीति-क्रियान्वयन का अनुभव नीति-निर्धारण की प्रक्रिया के लिए उपयोगी होता है। लेकिन लोक नीति लोक प्रशासन की तुलना में अधिक 'राजनीति' होती है। यह राजनीति विज्ञान का जनता के मामलों में प्रयोग का प्रयत्न है, लेकिन लोक प्रशासन के क्षेत्र में विभिन्न प्रक्रियाओं के साथ जिसका सरोकार जुड़ा होता है।

संक्षेप में, लोक नीतिसम्बन्धी अतीत के अध्ययन पर राजनीति विज्ञान एवं लोक प्रशासन के विद्वानों का प्रभाव रहा है जो नीति की विषय वस्तु, संघटन की प्रक्रिया और उसके क्रियान्वयन पर अधिक केन्द्रित रहा है। लोक नीति के अध्ययन का विकास सामाजिक विज्ञान की एक नई शाखा; तथाकथित नीति विज्ञान के रूप में हुआ। नीति विज्ञान की इस अवधारणा को पहली बार हेराल्ड लासवेल ने सन् 1951 में संघटित किया। आज सामाजिक रूप से प्रांसगिक ज्ञान की नई तथा सहज आकांक्षाओं की तुलना में नीति विज्ञान काफी दूर रह गया है।

1.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- लोक नीति के महत्व को समझ पायेंगे।
- लोक नीति के अर्थ और लोक नीति कितनी तरह की होती है, इसके बारे में जान पायेंगे।
- लोक नीति की अवधारणा और प्रकृति को समझ जायेंगे।

1.2लोक नीति का महत्व

लोक नीति को मोटे तौर पर प्रस्तुत परिवेश के भीतर विशिष्ट लक्ष्य या उद्देश्य प्राप्त करने के लिए किसी व्यक्ति, समूह, संस्था या शासन की प्रस्तावित क्रियाविधि के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। प्रत्येक प्रकार के संगठन में चाहे वह सरकारी हो या गैर-सरकारी, प्रत्येक क्रिया के पूर्व नीति निर्धारण आवश्यक होता है। सभी प्रकार के प्रबन्धन के लिए यह पूर्वापेक्षा है। नीति ही एक ऐसे ढ़ाँचे का निर्धारण करती है, जिसके भीतर संगठनात्मक लक्ष्यों को प्राप्त किया जाता है। किसी संगठन के उद्देश्य प्रायः अस्पष्ट और सामान्य होते हैं, जिन्हें

नीति लक्ष्यों के रूप में सुनिश्चित किया जाता है और जो प्रशासन में गतिशीलता उत्पन्न करते हैं। नीति निर्धारण सरकार का एक महत्वपूर्ण कार्य है। जन प्रशासन का सार नीति-निमार्ण है।

लोक नीतियां सरकारी निकायों एवं सरकारी अधिकारियों द्वारा विकसित की जाती हैं। यद्यपि गैर-सरकारी लोकएजेन्सियां भी नीति-निर्माण प्रक्रिया पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डाल सकती हैं या उसे प्रभावित कर सकती हैं। विभिन्न प्रकार से अलग लोक नीति की विशेषताओं का पता इस तथ्य से विदित होता है कि प्राधिकारी इन्हें राजनीतिक प्रणाली में सूत्रबद्ध करने का काम करते हैं। पहला- यादृच्छिक(Random) व्यवहार की अपेक्षा उद्देश्य परक या परिणामोन्मुखी कार्यवाही लोक नीति का प्रमाण चिन्ह है। आधुनिक राजनीतिक प्रणालियों में लोक नीतियों का निर्माण अकस्मात घटना के रूप में नहीं होता। दूसरा-लोक नीति यों का सम्बन्ध जन प्रशासकों द्वारा किसी प्रश्न पर तदर्थ किये गये पृथक निर्णयों से न होकर किसी विशेष प्रश्न पर निश्चित समयावधि के लिए कार्यवाही या निर्णयात्मक प्रतिमान से होता है। तीसरा- वह नीति जो शासन वास्तव में करती है और जो कुछ बात में घटित होने को होता है। चौथा- लोक नीति स्वरूप में या तो सकारात्मक या नकारात्मक हो सकती है। अंततः लोक नीति कम से कम अपने सकारात्मक रूप में नियम पर आधारित होती है और इसके पीछे कानूनी स्वीकृति होती है।

1.3लोक नीति

लोक नीति क्या है? इसकी अवधारणा और प्रकृति को निम्नांकित बिन्दुओं के माध्यम से समझने का प्रयास करते हैं।

1.3.1लोक नीति का अर्थ

'लोक नीति'शब्द का प्रयोग प्रायः शिथिलता से किया जाता है। इसे गलती से नियम, रीति-रिवाज तथा विनिश्चय(Decision) की खिचड़ी समझा जाता है।जबकि सत्य यह है कि नियम मार्ग-दर्शक होते हैं, वे करने और न करने योग्य कार्यों में अन्तर करते हैं, किन्तु नियम नीतियों के विपरीत कठोर तथा विशिष्ट होते हैं। निर्णय प्रायः नीति के क्षेत्र के भीतर ही किया जाता है। यह बहुत सम्भव है कि किसी नीति के कारण लगातार कई प्रकार के निर्णय लेने पड़ जायें। नीति का सम्बन्ध मौलिक मामलों से है, जब कि रीति का सम्बन्ध किसी नीति को प्रभावकारी बनाने के तरीके से होता है। जार्ज टैरी के शब्दों में ''नीति उस कार्यवाही की शाब्दिक, लिखित या विहित बुनियादी मार्ग दर्शक हैजिसे प्रबन्धक अपनाता है तथा जिसका अनुगमन करता है।''

डिमॉक ने भी नीतियों को निम्न प्रकार से परिभाषित किया है, ''नीतियां सजगता से निर्धारित आचरण के वे नियम जो प्रशासकीय निर्णयों को मार्ग दिखाते हैं।'' नीति एक ओर तो लक्ष्य या उद्देश्य से और दूसरी ओर कार्य-संचालन के लिए उठाये गये कदमों से भिन्न होनी चाहिए। उदहरणार्थ, देश में प्रत्येक नागरिक को शिक्षित बनाना एक लक्ष्य है, अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा एक नीति है जो इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए बनाई गई हैऔर स्कूल खोलना तथा अध्यापकों को प्रशिक्षित करना इत्यादि वे कदम हैं जो इस नीति को कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक है।

राबर्ट आइस्टोन के अनुसार, ''सरकारी इकाई का अपने आस-पास की चीजों से सम्बन्ध लोक नीति कहलाती है।''

रिचर्ड रोज के शब्दों में, ''लोक नीति एक निर्णय नहीं है, बल्कि क्रिया की एक प्रक्रिया अथवा प्रतिरूप है।''

थॉमस आर0डे0 के अनुसार, ''सरकार जो कुछ भी करना चाहती है या नहीं करना चाहती,लोक नीति कहलाती है।''

कार्ल जे0 फ्रैडरिक के विचार में, ''लोक नीति निश्चित वातावरण के अन्तर्गत एक व्यक्ति, समूह अथवा सरकार की क्रियाविधि की प्रस्तावित प्रक्रिया है, जिसमें अवसर या बाधाएं आती हैं।जिन्हें नीति एवं उद्देश्य की पूर्ति अथवा लक्ष्य की प्रक्रिया के प्रयत्न के प्रयुक्त करती है अथवा दूर करती है।''

निम्नलिखित बिन्दु लोक नीति के अर्थ को स्पष्ट रूप से समझने में काफी सहायक होंगे।

1. लोक नीति लक्ष्योन्मुखी होती है। लोक नीति के निर्माण एवं क्रिया चयन का उद्देश्य सामान्यतः जनता के सर्वोच्च हितों की पूर्ति के लिए एवं सरकार के विचाराधीन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाता है। लोक नीति से सरकारी योजनाऐं स्पष्ट होती हैं।
2. लोक नीति सरकार की सामूहिक गतिविधियों का परिणाम होती हैं। यह सरकार के अधिकारियों एवं कार्यकर्त्ताओं की सामूहिक गतिविधियों का प्रतिरूप अथवा प्रक्रिया है।
3. लोक नीति वह है जो सरकार वास्तव में करने का निश्चिय करती है अथवा करना चाहती है। यह एक निश्चित प्रशासनिक प्रणाली में सरकारी वर्ग का राजनीतिक वातावरण के विशिष्ट कार्य क्षेत्र से सम्बन्धित है। यह अनेक रूपों में अभिव्यक्ति होती है यथा- कानून, अध्यादेश, न्यायालय के निर्णय, कार्यकारी आदेश आदि।
4. लोक नीति सकरात्मक होती है,क्योंकि यह सरकार की चिन्ताओं और विशिष्ट समस्या के प्रति उसकी गतिविधि को स्पष्ट करती है। लोक नीति के पीछे कानून की शक्ति व मान्यता होती है। नकारात्मक रूप में लोक नीति को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है कि यह किसी मुद्दे पर सरकारी अधिकारियों द्वारा कोई कदम ना उठाने के रूप में भी अभिव्यक्त हो सकती है।

1.3.2लोक नीति के प्रकार

लोक नीतियां विभिन्न प्रकार की होती हैं। मुख्यतः इनके प्रकारों का भेद अलग अलग मुद्दों पर आधारित है।

1. **तात्विक अथवा सारगत नीतियां-** तात्विक नीतियों का विकास समाज की आवश्यकतानुसार होता है। इन नीतियों का सूत्रीकरण संविधान के स्वरूप को ध्यान में रखते हुए सामाजिक, आर्थिक कठिनाइयों को एवं समाज की नैतिक मांग को ध्यान में रखते हुए होता है। ये नीतियां किसी वर्ग विशेष से सम्बन्धित ना होकर पूरे समाज के विकास से सम्बन्धित होती हैं। शिक्षा का प्रबन्धएवं रोजगार के अवसर, आर्थिक स्थितीकरण, विधि और व्यवस्था बनाये रखना आदि इसी का प्रमाण है।
2. **नियन्त्रक नीतियां-** तात्विक नीतियों का सम्बन्ध व्यापार, व्यवसाय, सुरक्षा उपाय, जनोपयोगी आदि के नियन्त्रण से है। इस प्रकार का नियन्त्रण सरकार की ओर से काम करने वाली स्वतंत्र संस्थायें करती हैं। भारत में जीवन बीमा निगम, भारतीय रिजर्व बैंक, हिन्दुस्तान इस्पात, राज्य विद्युत परिषद, राज्य यातायात निगम, राज्य वित्तीय निगम आदि संस्थाऐं नियन्त्रक क्रियाओं में जुटी हुई हैं। इन सेवाओं से सम्बन्धित सरकार द्वारा बनायी गई नीतियां वह संस्थाऐं हैं जो यह सेवाऐं प्रदान करती हैं, नियंत्रक नीतियां कहलाती हैं।
3. **वितरक नीतियां-** वितरक नीतियां सम्पूर्ण समाज के लिए न होकर केवल समाज के विशिष्ट वर्गों के लिए होती है। ये माल के अनुदान के क्षेत्र में लोक कल्याण अथवा स्वास्थ्य सेवाओं आदि के क्षेत्र में हो सकती है। जैसे- प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम, खाद्य सहायता, बालवाड़ी पोशाहार, इन्दिरा महिला योजना, टीका शिविर आदि।

4. **पुनःवितरक नीतियां-** इनका सम्बन्ध नीतियों की पुनः व्यवस्था से है,जो मूल सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन लाने से सम्बन्धित होती है। कुछ कल्याण सेवाओं एवं सार्वजनिक माल का वितरण समाज के विशिष्ट वर्गों से बेमेल होता है। अतः ऐसी सेवाओं एवं माल को पुनः वितरक नीतियों द्वारा सीमित किया जाता है।
5. **पूँजीकरण-** पूँजीकरण नीति के अन्तर्गत राज्यों एवं स्थानीय सरकारों को यूनियन सरकार द्वारा आर्थिक सहायता प्राप्त होती है और यदि आवश्यकता हो तो यह सहायता अन्य महत्वपूर्ण क्षेत्रों को भी प्रदान की जा सकती है।

1.3.3 नीति तथा प्रशासन

लोक प्रशासन अपेक्षाकृत एक आधुनिक अनुशासन है। प्रारम्भिक विद्धानों ने नीति-निर्माण और लोक प्रशासन को एक-दूसरे से असम्बद्ध माना है। वे नीति-निर्माण को प्रशासन के कार्य क्षेत्र से बाहर मानते हैं। नीति और प्रशासन के बीच सुनिश्चित भेद करने का सर्वप्रथम श्रेय वुडरो विल्सन को जाता है। उन्होंने 1887 में प्रकाशित अपने निबन्ध ''प्रशासन का अध्ययन'' में राजनीति और प्रशासन के बीच अलगाव पर जोर दिया। उनका मानना था कि नीति-निर्माण एक राजनीतिक कार्य है जबकि प्रशासन का सम्बन्ध केवल नीतियों को लागू करने से है। उनका मानना था कि प्रशासनिक प्रश्न राजनीतिक नहीं होते। विल्सन का अनुसरण 'गुडनाउ' ने भी किया और यही विचार रखा। इन दोनों के विचारों का प्रभाव आगे कई दशकों तक रहा। इसी क्रम मेंसन्1926 में एल0 डी0 व्हाइट ने अपनी पुस्तक "Introduction to the Study of the Public Administration" के प्रथम संस्करण में प्रशासन और राजनीति के बीच अलगाव की जोरदार वकालत की।

यह विचार आगे बहुत दिनों तक कायम नहीं रह सका। विद्वानों ने यह माना कि प्रशासन और नीति को एक-दूसरे से बिल्कुल अलग नहीं किया जा सकता। प्रशासन और राजनीति के अन्योन्याश्रय(Interdependence) सम्बन्ध पर अधिक बल दिया जाने लगा। लूथर गुलिक इस दृष्टिकोण के अग्रणी चिंतकों में से थे। एक अन्य महत्वपूर्ण विचारक 'एपल्बी' का दृष्टिकोण भी इसी मत के साथ जुड़ा है कि राजनीति और प्रशासन एक ऐसे युग्म की तरह हैं, जिन्हें अलग नहीं किया जा सकता। एपल्बी के शब्दों में ''प्रशासक निरन्तर भविष्य के लिए नियम निर्धारित करते रहते हैं और प्रशासक ही निरन्तर यह निश्चित करते हैं कि कानून क्या है, कार्यवाही के अर्थ में इसका तात्पर्य क्या हैतथा इस प्रक्रिया में आदान-प्रदान और भविष्य के आदान-प्रदान के सम्बन्ध में दोनों पक्षों अर्थात् प्रशासन और नीति के अपने अलग-अलग अधिकार क्या होंगे? प्रशासक एक अन्य प्रकार से भी भावी नीति-निर्माण में भाग लेते हैं। वे विधान-मण्डल के लिए प्रस्तावों एवं सुझावों का स्वरूप निश्चित करते हैं। यह नीति-निर्माण का एक भाग होता है।''

संसदीय प्रणाली वाले देशों में नीति-निर्माण और प्रशासन को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। संसदीय प्रणाली में कार्यपालिका और विधायिका एक-दूसरे से अभिन्न होते हैं। विधायिका के सदस्य ही कार्यपालिका के सदस्य होते हैं और पूरी कार्यपालिका विधायिका के प्रति जवाबदेह होती है। ऐसी परिस्थिति में नीति-निर्माण और प्रशासन का एक अटूट रिश्ता बन जाता है। इस सन्दर्भ में पीटर ओडेगार्ड ने बिल्कुल ठीक कहा है कि नीति और प्रशासन राजनीति के जुड़वां बच्चे हैं,जो एक-दूसरे से अलग नहीं किए जा सकते। उपरोक्त बातें ना सिर्फ संसदीय प्रणाली वाले देशों के लिए सही है,बल्कि अध्यक्षीय प्रणाली वाले देशों के सन्दर्भ में भी बहुत हद तक सही हैं, जहाँ शक्तियों के पृक्कीकरण का सिद्धान्त लागू होता है।

यह बात ठीक है कि नीति-निर्माण प्रधानतः विधायिका का काम है, क्योंकि नीति का आधार तथा प्रारूप विधान के द्वारा ही निर्धारित और निश्चित होता है। पर इस पूरी प्रक्रिया में प्रशासन का सहयोग महत्वपूर्ण होता है। जमीनी हकीकत और वास्तविक आंकड़े प्रशासन के माध्यम से प्राप्त होते हैं, जिनके आधार नीतियों का निर्माण किया जाता है। दूसरी बात यह है कि विधायिका के लिए यह सम्भव नहीं है कि एक बार व्यापक नीति बनाने के बाद कार्य किए जाने के क्रम में आने वाली विभिन्न तरह की समस्याओं के सन्दर्भ में उन नीतियों को आवश्यक विस्तार दे सकें, या उन्हें पुनः परिभाषित कर सकें। यह काम अन्ततः प्रशासन को ही करना होता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि नीति का उद्-गम(स्रोत) स्थल तो विधायिका है,लेकिन आगे के सोपानों की रचना प्रशासन के ही भिन्न-भिन्न वर्ग करते हैं। हालांकि भारत जैसे देशों में नीति-निर्माण के कार्यों में प्रशासन की भूमिका निर्णायक होती जा रही है। पूरी नीति प्रशासन के द्वारा ही तैयार होती है, जिसे विभागीय मंत्री के माध्यम से सदन में प्रस्तावित किया जाता है। बहुमत होने के कारण विधायिका में प्रस्ताव प्रायः स्वीकृत हो जाता है। इस तरह नीति-निर्माण में प्रशासन की भूमिका काफी अहम हो गई है।

1.3.4 नीति की अवधारणा

'लोक' के विचार की तरह 'नीति' की अवधारणा एक मूल्यवान शब्द नहीं है। नीति के अन्तर्गत अन्य तत्वों के अलावा कार्यवाही के लिए मार्गदर्शन शामिल होता है। यह निम्न स्वरूप अपना सकती हैं-

1. लक्ष्यों की एक घोषणा;
2. कार्यवाहियों की एक घोषणा;
3. आम उद्देश्य की एक घोषणा; और
4. एक अधिकारिक निर्णय।

होगवुड एवं गन ने 'नीति' शब्द के इन प्रयोगों को निर्धारित किया है:

1. गतिविधि के क्षेत्र के लिए एक स्तर के रूप में;
2. किसी वांछित स्थिति की अभिव्यक्ति के रूप में;
3. निश्चित प्रस्तावों के रूप में;
4. औपचारिक अधिकार के रूप में;
5. उत्पादन के रूप में;
6. निष्कर्ष के रूप में;
7. एक सिद्धान्त या प्रतिरूप के रूप में;
8. एक प्रक्रिया के रूप में।

दुर्भाग्यवश नीति अपने आप में ऐसी होती है जो अलग-अलग स्वरूप धारण करती रहती है। नीति को राजनीतिक प्रणाली के 'निष्कर्षों' के रूप में परिभाषित करने की कोशिश होती रही है। ''कई अलग-अलग गतिविधियों से जुड़ी कम या ज्यादा आत्मनिर्भर नीतियों के रूप में लोक नीतिकी व्याख्या करने की कम कोशिश होती रही है।''लोक नीति के क्षेत्रों के अध्ययन मेंइसके विपरीत, नीति निर्णयों के विकास पर ध्यान केन्द्रित किया गया है जो एक राजनीतिक विश्लेषण की जगह निश्चित बुद्धिसंगत मूल्यों पर आधारित है। इस समस्या के केन्द्र बिन्दु को अन्य व्याख्याओं के जरिए पहचाना जा सकता है,जिसका इस क्षेत्र के विद्वानों ने काफी विकास किया है।

लोक विज्ञान के अग्रणी अध्येताओं में से एक, वाई ड्रोट ने नीतियों की व्याख्या ''कार्यवाही के मुख्य मार्ग जिनका अनुसरण किया जाना हो उसके सम्बन्ध में आम निर्देशावली'' के रूप में की है। इसी तरह पीटर सेल्फ ने नीतियों

की व्याख्या ''किस तरह कार्यों को समझा जाएगा एवं निष्पादन किया जाएगा, उसके सम्बन्ध में परिवर्तनशील निर्देशावलीके रूप में किया है।''

सर जेफरी विकर्स मानते हैं कि नीतियां ''ऐसे निर्णय हैं जो कार्यवाहियों को दिशा, संगति और क्रम प्रदान करते हैं और जिनके लिए निर्णय लेने वाली संस्था उत्तरदायी होती है।'' कार्ल फ्रेडरीच नीतियों के बारे में कहते हैं ''एक निश्चित परिवेश में एक व्यक्ति, समूह व सरकार की एक प्रस्तावित कार्यवाही, जहाँ अड़चनें और अवसर हों, जिन्हें नीति उपयोग करे और उन पर जीत हासिल कर लक्ष्य तक पहुँचे या एक विषय या उद्देश्य के रूप में प्रयोग करें।''

जेम्स एण्डरसन मानते हैं कि नीति ''एक उद्देश्यपूर्ण कार्यवाही है जिसका पालन एक कर्ता या कई कर्ता एक समस्या या चिन्ता के विषय से निपटने के लिए करते हैं।''

सम्पूर्ण स्वरूप में नीति की व्याख्या एक उद्देश्यपूर्ण कार्यवाही के रूप में की जा सकती है, जिस पर सत्ता में रहने वाले निश्चित लक्ष्य या उद्देश्य को प्राप्त करने में लिए अमल करते हैं या अपनाते हैं। यहाँ पर भी जोड़ा जाना चाहिए कि लोक नीतियां ऐसी नीतियां हैं, जिन्हें सरकारी संस्थाऐं एवम् अधिकारी अपनाते हैं और क्रियान्वित करते हैं।

डेविड इस्टोन लोक नीति की व्याख्या करते हुए कहते हैं ''पूरे समाज के लिए मूल्यों का अधिकारिक आबंटन।''

लोक नीतियों का संघटन इस्टोन के शब्दों में एक राजनीतिक प्रणाली में 'प्राधिकरणों' द्वारा किया जाता है।, जिनके नाम हैं- बुजुर्ग, अग्रणी प्रमुख, कार्यकारिणी, विधायिका, न्यायाधीश, प्रशासक, पार्षद, राजा एवम् अन्य। उनके अनुसार ये व्यक्ति ''राजनीतिक व्यवस्था के दैनिक मामलों से जुड़े होते हैंऔर व्यवस्था के अधिकतर सदस्यों द्वारा इन विषयों के प्रति उत्तरदायी माने जाते हैं। तथा ऐसी कार्यवाही करते हैं,जो अधिकतर सदस्यों द्वारा तब तक स्वीकार किए जाते हैं,जब तक अपनी भूमिकाओं के दायरे में कार्य किए गये हों।'' जे0 देवी (सन् 1927) ने कहा था कि लोक नीति 'जनता और उसकी समस्याओं' पर केन्द्रित होती है।

थॉमस ड्राई की परिभाषा है ''सरकार जो करना चाहती है या जो करना नहीं चाहती, वही लोक नीति है।'' इसी तरह रॉबर्ट लीनबेरी का कहना है कि ''सरकार अपने नागरिकों लिए जो करती है या जो करने में नाकाम रहती है, वही लोक नीतिहै।'' इन परिभाषाओं में सरकार द्वारा प्रस्तावित निर्णय और उनके क्रियान्वयन के बीच भिन्नता है।

1.3.5 लोक नीति की प्रकृति

एक नीति सामान्य या विशिष्ट, व्यापक या संकीर्ण, सहज या जटिल, सार्वजनिक या निजी, लिखित या अलिखित, स्पष्ट या धुंधली, संक्षिप्त या विस्तृत और गुणवत्ता सम्पन्न या संख्या सम्पन्न हो सकती है। यहाँ 'लोक नीति' को महत्व दिया गया है,जिसे सरकार कार्यवाही की निर्देशावली के रूप में अपनाती है। लोक नीति के दृष्टिकोण सेसरकार की गतिविधियों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है।

पहली- ऐसी गतिविधियां जो निश्चित नीतियों से जुड़ी हों, दूसरी- ऐसी गतिविधियां जिनकी प्रकृति सामान्य होऔर तीसरी- ऐसी गतिविधियां जो अस्पष्ट और असंगत नीतियों पर आधारित हो। हालांकि, व्यावहारिक धरातल पर एक सरकार शायद ही अपनी गतिविधियों के लिए सिद्धान्तों की एक निर्देशावली तैयार करती है। महत्वपूर्ण लोक नीतियों को अक्सर अधिक स्पष्ट बनाया जाता है।खास तौर पर जहाँ एक कानून, एक विनियमया एक योजना और उसके समकक्ष कोई मुद्दा जुड़ा हो। भारत का सर्वोच्च न्यायालय संविधान के कुछ अनुच्छेदों की अपने निर्णयों के माध्यम से नई व्याख्या प्रस्तुत कर सकता है, जिन्हें एक नई नीति का दर्जा मिल सकता है।

एक लोक नीति अपनी गतिविधियों के प्रमुख हिस्से को समाहित कर सकती है,जो विकास की नीति के साथ संगतिपूर्ण होते हैं। सामाजिक-आर्थिक विकास, समानता या स्वतंत्रता या आत्मनिर्भरता या उसी तरह समकक्ष कार्यवाही के निर्देश के सिद्धान्त को एक विकासमूलक नीति या राष्ट्रीय लक्ष्य के रूप में अपनाया जा सकता है।

एक लोक नीति संकीर्ण भी हो सकती है,जो किसी निश्चित गतिविधि से सम्बन्धित हो,जैसे परिवार नियोजन। एक लोक नीति देश की सभी जनता पर लागू हो सकती है या नागरिकों के एक अंश पर ही लागू हो सकती है। इसके अलावासरकार के प्रत्येक स्तर पर केन्द्र, राज्य एवं स्थानीयस्तर पर निश्चित या सामान्य नीतियां हो सकती हैं।इसके अलावा 'महानीतियां' भी होती हैं। सभी निश्चित नीतियों द्वारा अपनाए जाने वाले सामान्य निर्देश को 'महानीति' कहते हैं। ड्रोर के अनुसार 'महानीतियां'एक प्रकार की मास्टर नीति का स्वरूप अपना लेती हैं, जो ठोस स्पष्ट नीतियों से अलग होती हैं और जो मुख्य लक्ष्यों के प्रतिष्ठान से जुड़ी होती हैं,ताकि ठोस एवं निश्चित नीतियों के लिए निर्देशावली की भूमिका निभा सके। नीतियों से सामान्यतया निश्चित लक्ष्य या उद्देश्य अधिक अस्पष्ट या स्पष्ट अर्थों में जुड़े होते हैं। नजर आने वाले या नजर नहीं आने वाले के निष्कर्ष के रूप में नीतियां हो सकती हैं। आधुनिक राजनीतिक प्रणालियों में लोक नीतियां उद्देश्यपूर्ण या लक्ष्य अभिमुख कदम होती हैं। इसके अलावाएक लोक नीति अपने स्वरूप में या तो सकारात्मक हो सकती हैं,या नकारात्मक। अपने सकारात्मक स्वरूप में किसी खास समस्या से निपटने के लिए सरकार की किसी गुप्त कार्यवाही से जुड़ी रह सकती है, जिसके तहत उन विषयों पर कार्यवाही नहीं की जाती,जिन पर सरकारी आदेश की जरूरत होती है। लोक नीति की एक विधिसम्मत गुणवत्ता होती है, जिसे नागरिक एक कानून के रूप में स्वीकार करते हैं। उदाहरणस्वरूप करों को अदा करना जरूरी है, नहीं तो व्यक्ति को जुर्माना देना पड़ सकता है या जेल जाना पड़ सकता है। लोक नीतियों की यह विधिसम्मत गुणवत्ता उन्हें निजी संगठनों से भिन्नता प्रदान करती है। अगर सम्बन्धित अवधारणाओं से तुलना की जाए तो कार्यवाही के एक उद्देश्यपूर्ण तरीके के रूप में नीति की प्रकृति को बेहतर ढंग से समझा जा सकता है।

अभ्यास प्रश्न-

1. लोक नीति के अर्थ को स्पष्ट कीजिए।
2. लोक नीति कितने प्रकार के होतीहै?
3. प्रशासन में लोक नीति की प्रासंगकिता पर प्रकाश डालिए।
4. लोक नीति के प्रकृति पर टिप्पणी लिखिए।

1.4 सारांश

समाज की उत्तरोत्तर वृद्धि से हो रही जटिलता के साथ-साथ लोक नीति के क्षेत्र का महत्वबढ़ता गया है। यह केवल सरकारी गतिविधियों के कारणों और परिणामों के विवरण और व्याख्या से ही सम्बन्धित नहीं होता, वरन् लोक नीति को आकार प्रदान करने वाली शक्तियों के बारे में विज्ञान सम्मत ज्ञान के विकास से सम्बन्धित होता है। अध्ययन के अन्तर्गत विषय की सामाजिक व्याधियों को समझने के लिए लोक नीति का अध्ययन काफी सहायक सिद्ध होता है। किसी सामाजिक प्रणाली को अतीत से भविष्य की तरफ गतिशील करने के लिए लोक नीति एक महत्वपूर्ण तंत्र है। उदारीकरण, निजीकरण एवम् भूमण्डलीकरण के वर्तमान युग में शासन की भूमिका बदल गई है। सामान एवम् सेवाऐं प्रदान करना शासन का महत्वपूर्ण कार्य है। परन्तु आधुनिक परिस्थितियों में चूँकि शासन समाज की एक संस्था है,जिसका कार्य समाज के विकास के लिए निरन्तर होना चाहिए। फलस्वरूप इसकी योग्यता नीतियां बनाने और उन्हें लागू करने में निहित है। लोक नीति में जनता की लोकतांत्रिक अथवा राजनीतिक क्षमता का सुधार सम्मिलित है और यह सामान तथा सेवा-प्रदत्त कराने की क्षमता से सम्बन्धित नहीं है। लोक नीति एक अनिवार्य सार्वजनिक शिक्षा की भूमिका निभाती है। नीति-निमार्ण का मुख्य लक्ष्य ऐसे मूल्यों का निर्माण करना है,

जिनके जरिए समाज में व्यक्ति का सम्पूर्ण रूप से विकास सम्भव हो सके। वे लोगों को एकजुट करती है और अनुशासित स्थिति बनाये रखती है।

1.5 शब्दावाली

तात्विक- तत्व सम्बन्धी यर्थाथ, पूँजीकरण- पूँजी से सम्बन्धित या आर्थिक, यादृच्छिक व्यवहार- अनियमित या अव्यवथित व्यवहार, अकस्मात- अचानक, लक्ष्योमुखी- लक्ष्य की ओर बढता हुआ, अलगाव- अलग करना या अलग होने की स्थिति।

1.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. लोक नीति के अर्थ का उत्तर इसी शीर्षक के अन्तर्गत मिलेगा। इसको विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से व्याख्या की है।
2. लोक नीति के प्रकार को 1.3.2 में विस्तृत रूप से बताया गया है, कृपया ध्यान दें।
3. नीति और प्रशासन के मध्य सम्बन्धों का ध्यान पूर्वक अध्ययन करें।
4. लोक नीति के प्रकृति शीर्षक के अन्तर्गत ध्यान केन्द्रित करें।

1.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. प्रशासन एवं लोक नीति, मनोज सिन्हा।
2. सामाजिक प्रशासन, सुरेन्द्र कटारिया।
3. विकास प्रशासन, ए0 पी0 अवस्थी।
4. लोक प्रशासन- संकल्पना एवं सिद्धान्त, रूमकी बशु।
5. लोक नीति- सूत्रीकरण, कार्यान्वयन तथा मूल्यांकन, आर0 के0 कपूर।

1.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. प्रशासन एवं लोक नीति, मनोज सिन्हा।
2. लोक नीति- सूत्रीकरण, कार्यान्वयन तथा मूल्यांकन, आर0 के0 कपूर।

1.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. लोक नीति से आप क्या समझे हैं? इसको परिभाषित करते हुए इसकी प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. लोक नीति के अर्थ एवं परिभाषाओं को स्पष्ट करते हुए इसके प्रकार एवं ध्येय की विवेचना कीजिए।

इकाई-2 नीति चक्र: नीति-निर्माण की बाधाएँ

इकाई की संरचना

2.0 प्रस्तावना
2.1 उद्देश्य
2.2 नीति-निर्माण का महत्व
2.3 नीति-निर्माण
 2.3.1 नीति निर्धारण
 2.3.2 नीति निर्माता
2.4 नीति-निर्माण की बाधाऐं
 2.4.1 व्यक्ति के रूप में
 2.4.2 संचार माध्यमों का प्रभाव
 2.4.3 दबाव समूह
 2.4.4 राजनीतिक दल
2.5 सारांश
2.6 शब्दावली
2.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
2.8 सन्दर्भ ग्रन्थसूची
2.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
2.10निबन्धात्मक प्रश्न

2.0 प्रस्तावना

नीति-निर्माण मूल रूप से शक्ति की ही अभिव्यक्ति है। शक्ति का वर्णन अन्य लोगों के व्यवहार में किसी प्रकार का परिवर्तन लाने की क्षमता के रूप में किया जाता है। किसी सामाजिक सन्दर्भ में इसे ''किसी व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह की क्षमता के रूप में परिभाषित किया जाता है। जिसके द्वारा वह अन्य व्यक्तियों या समूहों के व्यवहार को उसी तरह से परिवर्तित कर सकता है,जिस तरह वह चाहता है। लोक नीति के परिप्रेक्ष्य में शक्ति को किसी व्यक्ति या समूहों का सार्वजनिक महत्व के पदों पर आसीन व्यक्तियों द्वारा नीति निर्णयों को निर्धारित करने की क्षमता के रूप में परिभाषित किया जाता है।नीति-निर्माणविभिन्न व्यक्तियों एवं समूहों द्वारा सम्पन्न है। उदाहरणार्थ मंत्रीपरिषद के सदस्य, संसद के सदस्य, नौकरशाह, संगठित हित समूहों के नेता, नीति-निर्माण प्रक्रिया में कार्यरत बलों के प्रत्येक समूह कुछ निश्चित प्रकार के प्रभावों को प्रयोग में लाते हैं,जो एक साथ मिलकर नीति-निर्माण की पूरी प्रक्रिया का निर्धारण करते हैं। इससे आशय यह है कि लोक नीति का निर्माण एक प्रक्रिया के द्वारा किया जाता है। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत निर्णयों के जटिल अन्त:सम्बन्ध आते हैं,जो शक्ति सम्पन्न व्यक्तियों और समूहों के प्रभाव के अधीन स्थापित होते हैं।

2.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- नीति चक्र के अन्तर्गत नीति-निर्माण के महत्व को समझ पायेंगे।
- नीति-निर्माण में नीति निर्माताओं और नीति का निर्धारण किस प्रकार किया जाता है, इसके बारे में जान पायेंगे।
- नीति-निर्माण में कौन-कौन से बांधक तत्व हैं, इस सम्बन्ध में जान पायेंगे।

2.2 नीति-निर्माण का महत्व

विकासशील राष्ट्रों में विभिन्न प्रकार की समस्याऐं व्याप्त हैं। उनसे निपटने के लिए लोक नीति का ही सहारा लिया जाता है। प्रत्येक प्रकार के संगठन में चाहे वह शासकीय हो या अशासकीय, प्रत्येक क्रिया से पूर्व नीति निर्धारण आवश्यक होता है। नीति ही एक ऐसे ढ़ाँचे का निर्धारण करती है, जिसके भीतर संगठनात्मक लक्ष्यों को प्राप्त किया जाता है। नीति निर्धारण शासन का एक महत्वपूर्ण कार्य है। लोकनीतियां सरकारी निकायों एवं सरकारी अधिकारियों द्वारा विकसित की जाती हैं।यद्यपि गैर-सरकारी लोग और एजेन्सियां भी नीति-निर्माण प्रक्रिया पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रभाव डालती हैं और उसे प्रभावित भी करती हैं। लोक नीति दोधारी तलवार के समान कार्य करती है।एक तरफ देश की तमाम समस्याओं की जड़ में लोक नीति है,तो दूसरी ओर देश की तमाम समस्याओं का समाधान भी लोक नीति है। इस कारण, लोक नीति के अध्ययन का महत्व बहुत बढ़ जाता है।

2.3 नीति-निर्माण

नीति-निर्माण के लिए जिन आधारों की आवश्यकता होती है, इनके बारे में जानने का प्रयास करते हैं-

2.3.1 नीति निर्धारण

नीति निर्धारण में मुद्दे/समस्याऐंविभिन्न स्तरों से गुजरते हुए नीति का रूप धारण करते हैं। जनतांत्रिक समाज में सरकार का समस्याओं की ओर ध्यानाकर्षण के लिए विभिन्न तरीके अपनाये जाते हैं। संसद तथा राज्य विधान मण्डल के सदस्य इन मुद्दों को जनता का प्रतिनिधि होने के नाते संसद तथा विधान मण्डल में उठाते हैं। ये मुद्दे प्रमुखतयाः उन क्षेत्रों से सम्बन्धित होते हैं, जिन मुद्दों पर सरकार या तो समुचित कार्यवाही करने में विफल रही हो अथवा सरकार के किसी कदम से कुछ समस्याऐं समाज में पैदा हो गयी हो। समाज में ऐसे संगठित दबाव समूह भी होते हैं जो किसी विशिष्ट दिशा में कार्यवाही करने की मांग करते हैं। जैसे 'फैडरेशन आफ इण्डियनचेम्बर्स ऑफ कामर्स एण्ड इंडस्ट्री'(FICCI) जैसी संस्थाऐं, केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियों के संगठन- ट्रेड यूनियनें भी सरकार की नीतियों को प्रभावित करते हैं।

सामाजिक हित के आन्दोलन भी नीति निर्माताओं को नई नीति बनाने तथा परिवर्तन के लिए बाध्य करते हैं। सामाजिक आन्दोलन, जैसे- चिपको आन्दोलन भी विशिष्ट मुद्दों पर विश्व का ध्यान आकृष्ट करते हैं। स्वयं सेवी संस्थाऐं भी विशिष्ट समस्या की ओर सरकार का ध्यान आकृष्ट करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। जनसंचार माध्यम जनचेतना बढ़ाने तथा समाज में परिवर्तन लाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ये समाचार-पत्रों तथा पत्रिकाओं के माध्यम से सरकारी नीतियों पर आलोचनात्मक टिप्पणी कर वैकल्पिक नीतियों के सुझाव पर बल देते हैं। सरकारें भी अपनी विचारधारा तथा प्रतिबद्धता के कारण नीतियां निर्धारित करती हैं। संविधान में वर्णित समाज का आदर्श भी सरकार की नीतियों को प्रभावित करता है। विपक्षी दल विभिन्न सार्वजनिक दलों तथा संसदीय मंचों का इस्तेमाल करके सरकार को विशेष नीति अपनाने के लिए बाध्य करते हैं। जनतांत्रिक समाज में

सरकार ना केवल अपनी विधाराधारा बल्कि समाज के विभिन्न संगठनों एवं समूहों, राजनीतिक व सामाजिक समूहों द्वारा मांगों को, नीतियों के निर्माण में ध्यान रखती है।

समस्या, के नीति एजेंडों में सम्मिलित होने के बाद ही सरकार उस समस्या के समाधान हेतु उद्देश्यों, लक्ष्यों तथा ध्येयों आदि के निर्णय की ओर अग्रसर होती है। समाधान के तीन चरण होते हैं-

1. **नीतियों के लक्ष्यों की व्यवहारिकता-** प्रथम चरण में ध्येय व उद्देश्य निर्धारित किये जाते हैं। इसमें किसी एक ऐसे परिप्रेक्ष्य का निश्चय किया जाता है,जिसमें लक्ष्यों का निर्धारण किया जा सके। लक्ष्यों को निर्धारित करते समय यह भी ध्यान रखा जाता है कि इनको व्यवहार में लाना, किस सीमा तक सम्भव है। नीति के लक्ष्यों को यथार्थवादी होना आवश्यक होता है, जिससे नीतिगत लक्ष्यों को सरलता से प्राप्त किया जा सके,क्योंकि ऐसी नीतियां जिन्हें क्रियान्वित करना कठिन हो, नीतिगत लक्ष्यों को प्राप्त करना भी कठिन कार्य है।
2. **रणनीति-** द्वितीय स्तर पर नीतियों को अमल में लाने के लिए रणनीति तैयार की जाती है। जैसे गरीबी उन्मूलन के लिए विभिन्न प्रकार की रणनीति, बाजार मूल्य से कम पर भोजन व आवास उपलब्ध कराना, ऐसी परिसम्पत्तियां प्रदान करना जिससे अतिरिक्त आय प्राप्त हो सके तथा उन्हें गरीबी रेखा से ऊपर उठाया जा सके। नीतिगत लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए कई रणनीतियां एक साथ भी अपनायी जा सकती हैं।
3. **क्रियान्वयन-** इस स्तर पर नीतियों के क्रियान्वयन के तरीके का निर्धारण किया जाता है। कुछ रणनीतियों के लिए उपलब्ध प्रशासनिक ढ़ाँचे की आवश्यकता हो सकती है। नीतिगत लक्ष्यों के क्रियान्वयन मेंनौकरशाही तथा गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका को भी निर्धारित करना होता है।

2.3.2 नीति-निर्माता

भारत में नीति-निर्माण एक विकेन्द्रीकृत प्रक्रिया है, जिसमें विभिन्न अभिकरण अपनी-अपनी भूमिका निभाते हैं। इनमें से कुछ प्रमुख अंग निम्नलिखित हैं-

1. **संविधान-** भारत में किसी भी नीति की पहली शर्त यह है कि वह किसी भी हालत में संविधान की मूल भावनाओं के विरूद्ध ना हो। संविधान की प्रस्तावना और राज्य के नीति-निर्देशक तत्व विभिन्न नीतियों के प्रेरणा स्रोत होते हैं। इस तरह नीति-निर्माण में संविधान की व्यापक भूमिका है। एक तरफ तो वह नीतियों के गलत व सही के निर्धारण का मानदण्ड है तो दूसरी तरफ वह नीतियों के लिए मार्गदर्शक की भूमिका निभाता है। किसी भी नीति को न्यायालय में इस आधार पर चुनौती दी जा सकती है कि वह संविधान सम्मत नहीं है या संविधान द्वारा घोषित लक्ष्यों और उद्देश्यों के विपरीत है। इस सन्दर्भ में संविधान की व्याख्या करने का अंतिम अधिकार सर्वोच्च न्यायालय को है। अधिकांश मामलों में नीतियां संविधान के अनुकूल ही बनायी जाती हैं, लेकिन कई बार नीतियों के अनुकूल से संविधान में संशोधन भी किया जाता है। अब तक हुए सौ से भी अधिक संशोधन इस बात की पुष्टि करते हैं कि नीतियों के अनुरूप भी संविधान में अपेक्षित बदलाव किए गए हैं। इस तरहनीतियों और संविधान का सम्बन्ध एकतरफा ना होकर दोतरफा है। अर्थात् एकतरफ जहाँ नीतियों का मूल स्रोत संविधान है, वहीं कतिपय मामलों में नीतियां भी संविधान को प्रभावित करती हैं। ऐसा इसलिए सम्भव हो जाता है कि हमारा संविधान एक जड़ संविधान नहीं है। संविधान निर्माताओं ने इसमें युगानुकूल पर्याप्त परिवर्तन की काफी गुंजाइश छोड़ रखी है।

2. **संसद-** भारत में महत्वपूर्ण नीतियां संसद द्वारा स्वीकृत होती हैं। बड़े नीतिगत फैसलों में संसद की सहमति आवश्यक है। बजट पास करने का अधिकार संसद को ही है जो प्रत्येक नीति का केन्द्रीय स्रोत है। भारतीय संसदबजट, अनुदान, पूरक मांगें, राष्ट्रपति के अभिभाषण पर चर्चा, प्रश्न काल आदि के माध्यम से नीति-निर्माण प्रक्रिया में सक्रिय भूमिका के महत्वपूर्ण होने का एक और बड़ा कारण है। भारत में वैसे तो संघात्मक प्रणाली को अपनाया गया है, लेकिन व्यवहार में यहाँ एक मजबूत केन्द्र की स्थापना की गयी है। केन्द्र की तुलना में राज्यों के अधिकार एकदम न्यून हैं। संविधान में विभाजित संघ सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची के विषयों में राज्य सूची के विषयों की संख्या बहुत ही कम है, जिन पर केवल राज्य नीति-नियम और कानून बना सकता है। राज्य सूची में किसी बड़े नीतिगत मामले को नहीं रखा गया है। ऐसे मेंसंसद की महत्वपूर्ण भूमिका हो जाती है।
3. **मंत्रीमण्डल-**भारत के लोक नीति निर्माण की केन्द्रीय धूरी मंत्रीमण्डल है। समस्त नीतिगत निर्णय मंत्रीमण्डल द्वारा ही लिए जाते हैं। मंत्रीमण्डलनीतिनिर्धारण में केन्द्रीय और शक्तिशाली इकाई है। प्रत्येक विभाग या मंत्रालय की नीति का निर्धारण उस विभाग का मंत्री ही करता है। भारत में नीति-निर्माण के क्षेत्र में मंत्रीमण्डल नीति-निर्माण की सर्वोच्च्च संस्था बनती जा रही है। संसदीय व्यवस्था होने के कारण हमारे यहाँ मंत्रीमण्डल में वही लोग होते हैं, जिनका संसद में बहुमत होता है। इसलिए अगर किसी नीति को लेकर मंत्रीमण्डल में सहमति बन जाती है,तो उसका संसद में पास होना निश्चित हो जाता है। आज व्यवहार में मंत्रीमण्डल ही नीति-निर्माण का मूल स्रोत हो गया है। कोई भी नीति संसद में विचारार्थ तभी प्रस्तुत की जाती है,जब उस पर पहले मंत्रीमण्डल में सर्वसहमति बन जाती है। अगर किसी मामले पर मंत्रीमण्डल में मतभेद हो तो उसे संसद में प्रस्तुत ही नहीं किया जाता है। कहने का आशय यह है कि संसद में प्रस्तुत किसी भी सरकारी विधेयक के लिए मंत्रीमण्डलीय सहमति अपेक्षित है।
4. **योजनाआयोग-** नीति-निर्माण सम्बन्धी प्रक्रिया में योजना आयोग भी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। हालांकियह मुख्यतः एक परामर्शदाता निकाय है, लेकिन वर्तमान समय में इसकी भूमिका काफी बढ़ गयी है। खासकरराज्यों को इसके सुझावों की अवहेलना करना काफी कठिन हो गया है। योजना आयोग देश के विकास के लिए अपना 5 वर्ष का ''रोडमैप'' जारी करता है। इसे पंचवर्षीय योजना के रूप मे पहचाना जाता है। सोवियत मॉडल से प्रभावित यह पंचवर्षीय योजना नेहरू की देन है। योजना आयोग का अध्यक्ष प्रधानमंत्री होता है। इसके सदस्य देश के विभिन्न क्षेत्रों के विशेषज्ञ होते हैं। योजना आयोग उन क्षेत्रों को चिन्हित करता है, जिन पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है और उसी के अनुसार धन का आबंटन भी होता है। योजना आयोग द्वारा चलाई जा रही नीतियों की हर 5 साल के बाद समीक्षा की जाती है और तत्पश्चात आगे की 5 साल की रूपरेखा खींची जाती है। पिछले अनुभवों और कार्यक्रमों के प्रभाव का विश्लेषण कर लक्ष्यों में भी अपेक्षित परिवर्तन किया जाता है।
5. **राष्ट्रीय विकास परिषद-** इसमें प्रधानमंत्री और राज्यों के मुख्यमंत्री शामिल होते हैं। विभिन्न योजनाओं, विशेषकर पंचवर्षीय योजनाओं के निर्माण में राष्ट्रीय विकास परिषद की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इसमें विभिन्न राज्यों को अपना पक्ष रखने का मौका मिलता है। चूँकि राज्यों के पास आर्थिक संसाधन एकदम सीमित हैं, इसलिए विभिन्न नीतियों के क्रियान्वयन के लिए राज्यों को केन्द्र की इन एजेंसियों पर अधिक निर्भर रहना पड़ता है। राज्यों की इस मजबूरी का फायदा भी कई बार ये ऐजेंसियां उठाती हैं और कई तरह की नीतियों को मानाने के लिए राज्यों को बाध्य करती हैं। कई बार इन एजेंसियों द्वारा राज्यों के धन आबंटन में भेदभाव का भी आरोप लगता है। जो पार्टी सत्तारूढ़ होती है,वह अपनी राज्य सरकारों को

अनुदान देने में उदारता बरतती है। वहीं विपक्षी पार्टी की राज्य सरकारों के अनुदान में कटौती भी कर देती है।

6. **न्यायपालिका-** न्यायपालिका भी नीति-निर्माण प्रक्रिया में अपना योगदान देती है। विभिन्न मसलों पर उसके फैसले और सुझाव लोक नीतियों को बहुत हद तक प्रभावित करते हैं। सरकार कई मामलों में सर्वोच्च न्यायालय से सलाह मांगती है। ये सलाह काफी हद तक नीतियों की मार्गदर्शक होती है। न्यायालय के फैसले कई बार नीति-निर्माण के आधार पर बनते हैं। कई बार न्यायालय के फैसले के पक्ष में नीतियां बनती हैं। फैसले को निरस्त करने के लिए संविधान में संशोधन किया जाता है। ''शाहबानो मामला'' इस तरह से संशोधन का एक महत्वपूर्ण उदाहरण है। हालांकि संविधान में हुए संशोधन को भी वैध या अवैध ठहराने का अंतिम अधिकार सर्वोच्च न्यायालय के पास ही है।
7. **दबाव समूह-** दबाव समूह नीतियों को काफी हद तक प्रभावित करते हैं। दबाव समूह सामान्य हित के आधार पर संगठित व्यक्तियों का समूह होता है। ये समूह नीतियों को अपने अनुकूल बनाने के लिए हर सम्भव कोशिश करते हैं। ट्रेड यूनियन, छात्र संघ, महिला संगठन, अल्पसंख्यक मोर्चा आदि ऐसे ही दबाव समूह हैं,जो नीतियों को प्रभावित करते हैं। भारत में जिस दबाव समूह की राजनीतिक और आर्थिक ताकत जितनी अधिक होती है, वह नीति-निर्माण को उसी अनुपात में प्रभावित करता है। अर्थात् किसी समूह विशेष की नीति-निर्माण को प्रभावित करने की ताकत इस बात पर निर्भर करती है कि सत्ता में उसकी कितनी हस्तक्षेपकारी भूमिका है। सत्ता में हस्तक्षेपकारी भूमिका के आधार पर ही कमजोर और ताकतवर दबाव समूहों की पहचान की जाती है। आर्थिक और राजनीतिक रूप से ताकतवर दबाव समूह ही नीतियों को बहुत अधिक प्रभावित करने की क्षमता रखते हैं। छोटे-छोटे कमजोर दबाव समूहों की कोई महत्वपूर्ण भूमिका नहीं होती। उनकी आवाज प्रायः अनसुनी कर दी जाती है।
8. **राजनीतिक दल-** राजनीतिक दल चुनावी घोषणा-पत्र द्वारा अपनी नीतियों को प्रस्तावित करते हैं। सत्ता प्राप्त करने के बाद वे मूलतः अपनी नीतियों को ही आगे बढ़ाते हैं। इस तरहसरकार की नीति में सत्ताधारी राजनीतिक दल की ही नीति होती है। जो दल विपक्ष में होते हैं वे भी नीतियों को काफी हद तक प्रभावित करते हैं। कई बार सरकार को विपक्षी दलों के भारी विरोध और दबाव के कारण प्रस्तावित नीतियों को वापस लेना पड़ता है। कई बार किसी मुद्दे को कोई खास राजनीतिक दल उठाता है, लेकिन कालान्तर में वह सबका मुद्दा बन जाता है और सभी उसकी ओर ध्यान देना शुरू कर देते हैं। विचारधारा आधारित राजनीतिक दलों की खास नीतियां होती हैं, जिसको लेकर वे हमेशा संघर्षरत और प्रयासरत रहते हैं। इसी तरह क्षेत्रीय दलों की भी अपनी नीतियां होती हैं। भारत में बहुदलीय व्यवस्था होन के कारण प्रत्येक दल अपने-अपने वोट-बैंक की इच्छाओं के अनुरूप नीतियों के निर्माण के लिए दबाव बनाता है। कई बार तो किसी नीति विशेष के समर्थन में या विरोध में ही किसी नये राजनीतिक दल का उदय हो जाता है। इस तरह के दल येन-केन-प्रकारेण अपनी नीतियों के पक्ष में माहौल बनाने और उसे लागू करवाने को लेकर समर्पित होते हैं। राजनीतिक दल विभिन्न नीतियों के समर्थन में या विरोध में रैलियां, धरने, प्रदर्शन आदि का आयोजन करते रहते हैं। वस्तुतः विभिन्न तरह के राजनीतिक दल भारत के विविधता मूलक समाज में जनता की विभिन्न तरह की आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसलिए देश के नीति-निर्माताओं के लिए राजनीतिक दलों की उपेक्षा सम्भवनहीं है। विभिन्न राजनीतिक दलों की मांगों के बीच समन्वय एवं सन्तुलन से ही एक अच्छी नीति का निर्माण सम्भव है। चूँकि राजनीतिक दलों को प्रत्येक पाँच साल बाद

चुनाव में जाना होता है, इसलिए वे नीति-निर्माण और उसके प्रभावों के प्रति किसी अन्य संस्था की तुलना में अधिक सचेत और जागरूक होते हैं।

9. **परामर्शदाती समितियां-** विभिन्न परामर्शदायी समितियां भी नीति-निर्माण को प्रभावित करती हैं। इसमें सरकार की कुछ स्थायी समितियों के अलावा उन सिमितियों की भी महत्वपूर्ण भूमिका है,जो समय-समय पर सरकार द्वारा गठित की जाती हैं। ये समितियां अपने सुझाव और सिफारिशें सरकार को सौंपती हैं जो सम्बद्ध मसलों पर नीति-निर्माण के लिए काफी कारगर होता है।
10. **मीडिया-** मीडिया भीजनमत को प्रभावित करता है। नीतियों के पक्ष या विपक्ष में जनमत के निर्माण में मीडिया प्रभावशाली भूमिका निभाता है। मीडिया वर्तमान में चल रही विभिन्न नीतियों पर ना सिर्फ स्वतंत्र राय देता है, बल्कि आवश्यक नीतियों के लिए सुझाव भी देता है। मीडिया विभिन्न पक्षों का वस्तुनिष्ठ विश्लेषण कर जनपक्षधर नीति के लिए दबाव बनाने का काम करता है। भारत में मीडिया की भूमिका लगातार बढ़ती जा रही है। आज मीडिया प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से नीतियों पर निगरानी का काम भी कर रहा है। वह नीतियों की खूबियों और खामियों को बखूबी उजागर कर रहा है। 'आर0टी0आई0' और 'मनरेगा' जैसे व्यापक नीतिगगत निर्णयों के उचित ढंग से क्रियान्वित नहीं हाने की तमाम खबरें मीडिया के माध्यम से सामने आ रही हैं। अगर किसी नीति का निर्माण किसी अनैतिक दबाव में हो रहा है या हुआ है,तो मीडिया उसे उजागर करता है। नीतियों के निर्माण में आज मीडिया की राय अहम मानी जा रही है। ऐसी कई नीतियां हैं,जिसमें मीडिया में हो रही आलोचना के दबाव में अपेक्षित परिवर्तन करने पड़े हैं। मीडिया जहाँ सरकार की गलत नीतियों की खिंचाई करता है, वहीं उसकी अच्छी नीतियों का जोरदार समर्थन भी करता है। आज मीडिया विभिन्न तरह के दबाव समूहों को ना सिर्फ मंच प्रदान करता है, बल्कि वह स्वयं एक शक्तिशाली दबाव समूह के रूप में प्रकट हुआ है,जो नीतियों को प्रभावित करने में निर्णायक भूमिका निभा रहा है।

2.4 नीति-निर्माण की बाधाऐं

नीति के निर्माण में अनेक प्रकार की बाधाऐं हैं-

2.4.1 व्यक्ति के रूप में

नीति-निर्माण के अध्ययन का एक आयाम यह स्पष्ट करने से सरोकार रखता है कि कैसे व्यक्ति के रूप में या व्यक्तिगत रूप से कोई नागरिक निर्णय लेने वालों पर अपना प्रभाव डालता है ? लोकतांत्रिक सरकार में लोगों के बारे में यह कहा जाता है कि वे स्वयं अपने-अपने भाग्य के विधाता हैं और राजनैतिक दृष्टि से सम्प्रभु हैं।

डोरोथौ प्रिकल्स के अनुसार दो अनिवार्य पूर्वावश्कताऐं हैं, जिन्हें सरकार की एक लोकतांत्रिक प्रणाली के अस्तित्व के लिए निश्चित रूप से पूरा किया जाना चाहिए। प्रथम, तो इसे यथा सम्भव सीमा तक सटीक ढंग से इन मुद्दों पर अधिकतम सम्भव संख्या में लोगों के विचार को व्यक्त करने में समर्थ होना चाहिए कि उनके प्रतिनिधि कौन होंगे और देश का शासन कार्य कैसे संचालित होना चाहिए? द्वितीय, इसे यह सुनिश्चित करने के तरीके प्रदान करने चाहिए कि जनता द्वारा चुने गए लोग वस्तुतः वही करते हैं,जो मतदाता उनसे चाहते हैं और यदि वे ऐसा नहीं करते तो चुनावों के बीच भी उन्हें प्रतिस्थापित किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में लोकतंत्र प्रतिनिधिक(Representative) और उत्तरदायी सरकार का द्योतक हो जाता है।

प्रतिनिधिक लोकतंत्र में यह माना जाता है कि शक्ति जनसाधारण से उत्पन्न होती है। प्रतिनिधित्व में जनता से विधायिका को प्रतिनिधायन का स्पष्ट निहितार्थ अन्तर्भूत होता है। विधायिका के माध्यम से जनप्रतिनिधि कानून बनाते हैं और बहुमत से नीति सम्बन्धी निर्णय लेते हैं। साथ ही कुछ निश्चित पदाधिकारियों को सार्वधिक निर्वाचन की प्रक्रिया में भाग लेने का व्यवहार यह सुनिश्चित करता है कि जिन लोगों का प्रतिनिधित्व किया जाता है उनके हितों की ओर ध्यान दिया जा रहा है। लोकतंत्र में जनता विधायन और नीति-निर्माण की प्रक्रिया का आरम्भ उन प्रत्याशियों के लिए मतदान द्वारा करती है, जिनके विचारों और मूल्यों से वह अवगत होती है। फिर भी व्यवहार में नीति-निर्माण में नागरिक सहभागिता नगण्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि बहुत से लोग अपने मताधिकार का प्रयोग नहीं करते या दलीय राजनीति में भाग नहीं लेते। केवल क्रियाशील होकर व्यक्ति के रूप में नागरिक विरले ही एक सशक्त राजनैतिक बल हो सकता है। इसके विपरीत जनसाधारण या जनता आकांक्षा और प्रयोजन की एकता का प्रतीक है। राजनीति में व्यक्तियों के बजाय समूह नीति-निर्माण के तरीके को प्रभावित करते हैं। पदधारियों के एक अपेक्षाकृत छोटे समूह को उन कार्यों के लिए जिम्मेदार माना जा सकता है, जो वे सम्पादित करते हैं।

इसके अतिरिक्त यह भी देखा गया है कि अधिसंख्यक लोग जो राजनीति से जुड़ते हैं, किसी राजनैतिक संगठन में शामिल होने के बजाय व्यक्तिगत आधार पर ही ऐसा करते हैं। वे ना तो संगठित हितों से सम्बद्ध होते हैं और ना ही सार्वजनिक मामलों में सक्रिय रूचि दर्शाते हैं। मतदान करते हुए भी वे नीतिगत अभिमुखों या प्राथमिकताओं से बहुत कम ही प्रभावित होते हैं। केवल एक अल्पसंख्यक समूह ही ऐसा होता है,जिसके सदस्य भारत में केंन्द्रीय, राज्य और स्थानीय स्तरों पर विधायी, कार्यकारी और न्यायिक पदों पर आसीन होते हैं। सार्वजनिक सेवा में बड़ी संख्या में लोग होते हैं, किन्तु उनमें से ऐसे लोगों का प्रतिशत बहुत कम होता है,जो सार्वजनिक या लोक नीतियों को प्रभावित करते हैं।

अतः सहजता से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि राजनीति, आपेक्षित रूप से बहुत कम लोगों को आकर्षित करता है। राजनैतिक शक्ति का विश्लेषण करने के लिए ना तो नागरिकऔर ना ही जनसाधारण विशेष रूप से कोई संतोषजनक बल है। परन्तु यह एक तथ्य है कि कोई भी सरकार चाहे वह अधिनायकवादी ही क्यों ना हो, जनता की आकांक्षाओं और रिवाजों के विरूद्ध नहीं जा सकती है। सरकार के नीति-निर्माण सम्बन्धी प्रकार्य के अन्तर्गत अनिवार्यतः जनता के हितों का ध्यान रखा जाना चाहिए। विश्व के सभी देशों में स्थापित सभी प्रकार की सरकरों ने यह अनुभव किया है कि सम्प्रभुता अन्ततः उस देश की जनता में निहित होती है।

2.4.2 संचार माध्यमों का प्रभाव

लोकतंत्र की एक पूर्वापेक्षा(शर्त), मुक्त संचार माध्यम है। संचार माध्यम नागरिक और सरकार के बीच सूचना या जानकारी के सेतु का काम करते हैं। वे सरकार द्वारा लिए गए निर्णयों के बारे में नागरिकों को जानकारी देते हैं। इस प्रकार जनसंचार माध्यम एक-दूसरे के निर्णयों के प्रति उनकी प्रतिक्रियाओं को बदलने में सहायता करते हैं। निश्चित मुद्दों को सार्वजनिक रूप से सामने लाकर संचार माध्यम समसामयिक मसलों के प्रति जनता की प्रतिक्रिया के परिप्रेक्ष्य में सरकार के लिए जानकारी के एक महत्वपूर्ण स्रोत का काम करते हैं।

चूँकि जनसंचार माध्यम संप्रेषण के साधनों के रूप में काम कर रहे हैं। अत:यह निश्चित करना महत्वपूर्ण है कि क्या सूचनाओं अथवा जानकारियों की प्रस्तुति में वे राजनैतिक पूर्वाग्रह से ग्रस्त हैं। यदि वे सरकार के निर्णयों तथा क्रियाकलापों को जनसाधारण के समक्ष और जनता के विचारों को सरकार के समक्ष प्रस्तुत करने में पूर्वाग्रह दर्शाते हैं तो वे लोकतन्त्र की मूल संकल्पना को विरूपित(खराब) कर सकते हैं। यदि नागरिक लोक नीति या सार्वजनिक नीति के सम्बन्ध में युक्तपरक निर्णय लेने के लिए प्रतिबद्ध हैं,तो संचार माध्यमों में उच्च कोटि की विश्वसनीयता

होनी चाहिए। सरकार के बारे में जनसाधारण को जानकारी देने में संचार माध्यमों की भूमिका को लेकर उनकी गुणवत्ता गम्भीर सरोकार(हित) का विषय है। यह देखा गया है कि राजनैतिक मुद्दों को प्रस्तुत करने की दृष्टि से, खासकर प्रेस की क्षमता सरकार के कार्यक्षेत्र और जटिलता के बजाय आधिकारिक गोपनीय तथ्यों अधिनियम, संसदीय विशेषाधिकार, मंत्रियों के दायित्व तथा अभियोग-पत्र के कानूनों से अधिक प्रभावित होते हैं। सरकार पर प्रेस में जो कुछ प्रकाशित होता है,उसके स्तर में ह्रास हो रहा है। ना तो निर्वाचित जन-प्रतिनिधियों द्वारा और ना ही निर्वाचक जनता द्वारा इस चलन को बदलने के लिए कोई मजबूत दबाव बन रहा है।

जब संचार माध्यम किसी ऐसी स्थिति में जिसमेंसरकार को जनता के प्रति अनुक्रियात्मक और जिम्मेदार माना जाता है, जनता के विचारों को प्रभावित करने में समर्थ होते हैं तो वे नीति कोनिर्धारित करने की दृष्टि से भी प्रभावी हो जाते हैं।

2.4.3 दबाव समूह

व्यक्तिगत रूप से नागरिकों द्वारा व्यक्त सार्वजनिक विचार, दृष्टिकोण की तीव्रता या सघनता को नहीं दर्शाता। यह में परिवर्तन के लिए प्रमुख आधार का काम नहीं करता है। अनेक नागरिकों में नीति-निर्माण की विषयवस्तु और प्रविधियों की जानकारी के लिए आवश्यक विशेषज्ञता का अभाव होता है। प्रायः वे यह नहीं जान रहे होते हैं कि सबसे अधिक प्रभाव दर्शाने के लिए अधिकारी को किस प्रकार के नीतिगत मुद्दों पर विचार करना चाहिए। केवल कार्य करते हुए व्यक्तिगत रूप से नागरिक विरले ही एक सार्थक सुदृढ़ शक्ति के रूप में उभर पाता है। दूसरी ओर ऐसे अनेक नागरिक हैं,जो परस्पर भिन्न तथा संघर्षरत हितों एवं मूल्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं। लोक नीतियों को प्रभावित करने के उद्देश्य से साधारण नागरिक के लिए वैयक्तिक क्रिया की अपेक्षा सामूहिक क्रिया को अधिक प्रभावी माना जाता है। यदि किसी सामान्य उद्देश्य अथवा हित के लिए बड़ी संख्या में नागरिक संगठित नहीं हों,तो उनके संदेशों और नीतिगत मुद्दों के व्यापक संचरण व प्रसार की सम्भावनाऐं धूमिल हो जाएगी। व्यक्तिगत रूप से किसी नागरिक के लिए हित समूह सम्प्रेषण या वैचारिक संचार का एक महत्वपूर्ण ‘चैनल’ या माध्यम होता है। हित समूह या दबाव समूह सार्वजनिक विचार के प्रभाव को बढ़ाने के महत्वपूर्ण साधन होते हैं। वे नीति सम्बन्धी निर्णयों के सन्दर्भ में लोक अधिकारियों के साथ व्यक्तिगत तौर पर नागरिकों की अपेक्षा अधिक प्रभावी ढंग से संवाद-संप्रेषण कर सकते हैं। संगठित नागरिकों द्वारा राजनैतिक प्रभाव का प्रयोग सरकार के लोकतांत्रिक स्वरूप की एक प्रमुख विशेषता है।

दबाव समूह औपचारिक ढाँचों वाले संगठन हैं, जिनके सदस्य एक सामान्य हित में सहभागी होते हैं। वे राजनैतिक महत्व के पद को प्राप्त करने का प्रयास किए बिना सरकार के निर्णयों को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। वे व्यक्तिगत रूप से नागरिकों तथा नीति निर्धारकों के मध्य सेतु का काम करते हैं। व्यक्तिगत रूप से नागरिकों के लिए दबाव समूह संचार तथा शक्ति के सबसे महत्वपूर्ण साधन हैं। वे नागरिकों को अपनी आशाऐं एवं आकांक्षाऐं लोक अधिकारियों तक सम्प्रेषित करने में सहायक होते हैं और इस उद्देश्य से नीति-निर्माण के व्यापक पक्षों तथा प्रविधियों(Techniques) में उन्हें विशेषज्ञता और कार्मिक-तन्त्र प्रदान करते हैं। नीति निर्माताओं के हित समूह, विशेषज्ञता और राजनैतिक समर्थन प्रदान करने के साथ-साथ किसी सामान्य हित से जुड़े नागरिक समुदाय के एक बड़े अंश के दृष्टिकोण की प्रखरता को सामने लाता है। बदले में हित समूह नागरिकों और नीति निर्माताओं पर प्रभाव के क्षेत्र उत्पन्न करने में सक्षम हो पाते हैं। यदा-कदा वे अपने हित के मुद्दे पर समर्थन की पड़ताल के लिए चुनावों में प्रत्याशियों को प्रायोजित करते हैं। फिर भी वे विरले ही सफल माने जाते हैं।

साथ ही हित समूहों के नेताओं को सार्वजनिक बोर्डों, परिषदों या समितियों से जुड़ने और उनको सदस्य बनने के लिए आमंत्रित किया जाता है। इस तरह के आमंत्रणों के मूल में उनकी विशेषज्ञता, योग्यता और कौशल होता है। हित समूहों और सरकारी कार्यालयों के बीच भेद इस तथ्य के कारण बहुधा मिट जाता है कि सरकारी संस्थाऐं समय-समय पर गुटबन्दी का शिकार हो सकती हैं। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि सभी दबाव समूह केवल राजनैतिक प्रभाव तथा क्रियाकलाप से ही सरोकार नहीं रखते हैं। उदाहरण के लिए भारतीय वाणिज्य और उद्योग परिसंघ 'फिक्की' (फेडरेशन ऑद दी इंडियन चैंबर्स ऑफ कॉमर्स एण्ड इंडस्ट्री) अपने घटक निकायों को नए विधान, मूल्यों, व्यावसायिक निवेशों, मार्कों (ट्रेड मार्क) आदि जैसे मुद्दों पर व्यापक रूप से सलाह दे सकता है।

2.4.4 राजनीतिक दल

राजनीतिक दल सार्वजनिक विचार के प्रभाव को बढ़ाने वाले एक अन्य साधन का काम करते हैं। दबाव समूहों की तरह वे नागरिकों तथा नीति निर्धारकों के मध्य सेतु जैसे होते हैं। जिन राजनीतिक मंचों पर चुनाव लड़े जाते हैं,वे किसी दल के नेतृत्व के लिए आधार का काम करते हैं।

इस प्रकार राजनीतिक दलों को सरकार तथा लोक नीतियों पर लोकप्रिय नियंत्रण स्थापित करने के लिए महत्वपूर्ण 'एजेन्ट' माना जाता है। वे महत्वपूर्ण मुद्दों को प्रकाश में लाने तथा समाज के लिए मूल्याधारित लक्ष्य निर्धारित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वर्क के अनुसार ''राजनैतिक दल मनुष्यों का एक निकाय है,जो विशिष्ट तथा सर्वसम्मति से स्वीकृत सिद्धान्तों के आधार पर राष्ट्रीय हित को प्रोत्साहित करने के लिए एक सूत्र में आबद्ध(जुड़े) होते हैं।''

चूँकि लोक नीतियों के निर्धारण में राजनैतिक दलों की भूमिका महत्वपूर्ण होती है।उनके लिए निम्नलिखित शर्तों का पालन करना अनिवार्य है-

1. दलों के कार्यक्रम अवश्य होने चाहिए।
2. प्रत्येक दल के प्रत्याशियों को इसके कार्यक्रम के प्रति समर्पित होना चाहिए।
3. दलों को अपना कार्यक्रम जनसाधारण के समक्ष निश्चित रूप से प्रस्तुत करना चाहिए।
4. विरोधी दलों को वैकल्पिक कार्यक्रम अनिवार्य रूप से प्रस्तुत करना चाहिए।
5. जिस दल को बहुमत मिलता है, उसे सरकार की बागडोर सम्भालनी चाहिए।
6. जो दल चुनाव जीतता है,उसमें आन्तरिक संसक्तता और अनुशासन होना चाहिए,ताकि वह अपना कार्यक्रम संचालित कर सके।
7. चुनाव जीतने वाले दल को अपना कार्यक्रम निश्चित रूप से क्रियान्वित करना चाहिए।
8. सत्तारूढ़ दल को सरकार के प्रदर्शन की जिम्मेदारी अनिवार्य रूप से स्वीकार करनी चाहिए।
9. विपक्षी दल को सरकार का नियंत्रण अपने हाथों में लेने के लिए तैयार रहना चाहिए।
10. एडवर्ड्स और शारांस्की आगे कहते हैं,''इन शर्तों के अन्तर्गत काम करने वाली एक द्विदलीय प्रणाली मतदाताओं के समक्ष प्रस्तुत विकल्पों का सरलीकरण कर देगी, उन्हें नीति सम्बन्धी मुद्दों पर अपने दृष्टिकोण प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करने का अवसर देगी।राजनीति में जनसाधारण की सहभागिता को सहज बनाएगी, बहुमत पर आधारित शासन को प्रभावी बनाएगी और सरकार पर लोकप्रिय नियंत्रण स्थापित करेगी।'' इस प्रकार सरकारी नीति का एक महत्वपूर्ण कारक दलगत नीति है। अतः सरकार में नीतिगत पहल को निर्धारित या मूर्त करने वाले बलों को समझने के क्रम में राजनैतिक दलों के शक्ति-वितरण को जानना आवश्यक है।

नेतृत्व (संसदीय समूह) की शक्ति और उसके अन्दर स्वयं नेता की शक्ति सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। यह देखा जाता है कि नीतिगत परिवर्तनों का सूत्रपात सत्तासीन दल के नेतृत्व द्वारा होता है और दल के नेताओं को अपनी प्रस्थितियां विभिन्न वर्गों से सम्बद्ध चयनकर्ताओं के कारण प्राप्त होती हैं। इस दृष्टि से ये चयनकर्ता नीति के चयन का नीतिगत प्राथमिकता में व्यापक योगदान करते हैं। यद्यपि सामान्य तौर पर नेतृत्व की प्रधानता की स्थिति ही दृष्टिगोचर होती है।

दल का नेता नियुक्ति की शक्तियों का प्रयोग कर सकता है,जो उसके दल से सम्बन्धित संगठनों पर नियंत्रण स्थापित करने में समर्थ बनाता है। उसे सत्तासीन होने के बाद कैबिनेट के सदस्यों के चयन का अधिकार भी होता है। संसदीय समूह के बाहर दल उसे पदच्युत नहीं करता है। संसदीय दल के अन्दर नेता या नेतृत्वकर्ता विशेषकर पदासीन रहकर नीतिगत चयनों और प्राथमिकताओं को व्यापक रूप से प्रभावित करने में सक्षम होता है।

विपक्षी दल के नेता के रूप में वह नीति-निर्माण की शक्ति के सम्भावित प्रयोग की क्षमता से वंचित नहीं होता है। इस प्रकार राजनीतिक दलों के आम सदस्य अत्यन्त भूमिका निभाते हैं। किसी दल के सामान्य सदस्यों का अस्तित्व अपने नेता का समर्थन एवं उसके प्रति निष्ठावान व प्रतिबद्ध होने में ही निहित होता है। फिर भी सामान्य सदस्यों का समर्थन अर्थव्यवस्था, विदेश नीति और कराधान नीति में राज्य की भूमिका जैसे आधारभूत महत्व के मुद्दों पर किसी गुट की सफलता के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। उदाहरण के लिए भारत में समाजवादी जनता दल के अन्दर गुटबन्दी बहुत सामान्य रही, क्योंकि यह दल भिन्न-भिन्न विचारधारात्मक दृष्टिकोणों का गठबन्धन था।

किसी दल से सम्बद्ध विभिन्न पदों (जैसे अध्यक्ष, महासचिव, उपाध्यक्ष) पर नियंत्रण स्थापित करके भी उसकी नीतियों के चयन को प्रभावित किया जा सकता है। ऐसा देखा गया है कि दल के नेता स्वयं दलीय पदों पर सुदृढ़ पकड़ बनाए रखते हैं। वे (दल के नेता) सभी दलों द्वारा नहीं बल्कि अपने संसदीय सहकर्मियों द्वारा चुने जाते हैं। किसी संसदीय लोकतन्त्र में दल का नेता संसदीय दल (उदाहरण के लिए कांग्रेस, भाजपा, राजपा, जेडीयू आदि) द्वारा मतदान के आधार पर चुना जाता है। जहाँतक मंत्रियों के चयन का प्रश्न है, जब किसी दल को बहुमत से समर्थन मिलता है और वह सत्तारूढ़ हो जाता है तो यह उसके नेता पर निर्भर होता है।

अमेरिका के राजनीतिक दलों की तरह भारत के दल बहुत हद तक मध्यस्थता पर आधारित संगठन होते हैं,जो सामाजिक दशाओं के प्रति सजग नीतिमूलक पदों या प्रस्थितियों को बढ़ावा देने के बजाय सार्वजनिक महत्व के पद प्राप्त करने के लिए प्रतिबद्ध होते हैं। उद्यम, अर्थव्यवस्था, निर्धनता और बेरोजगारी उन्मूलन कार्यक्रम, श्रम तथा कारोबार पर केन्द्रित सरकारी विनियम आदि जैसे विभिन्न मुद्दों पर विभिन्न दलों के बीच टकराव व संघर्ष प्रायः होते रहते हैं। दलीय संघर्ष की यह स्थिति विशेष रूप से पंचवर्षीय योजनाओं में स्पष्ट दिखाई देती है जो राष्ट्रीय सरकार के सबसे महत्वपूर्ण नीतिगत दस्तावेज होते हैं। केन्द्र तथा राज्य स्तरों पर बजट के प्रस्तुत एवं पारित होने के समय भी दलीय संघर्ष का होना निश्चित होता है। बजट को प्रधानमंत्री या मुख्यमंत्री के दृष्टिकोण की परिणति माना जाता है और इसे उसके दल की पूर्ण स्वीकृति प्राप्त होती है। विभिन्न विधेयकों के कुछ निश्चित पक्षों पर प्रायः सभी दलों में सहमति नहीं होती।

भारत में राजनीतिक दलों पर केन्द्रित अध्ययन यह इंगित करते हैं कि वे उत्तरदायी या जिम्मेदार दलों के लिए आवश्यक शर्तों को पूरा नहीं करते। समाज के अलग-अलग वर्गों के लिए उनके कार्यक्रम और उन्हें आकृष्ट करने के तरीके भिन्न-भिन्न होते हैं। वे कोई एकल राष्ट्रीय दृष्टिकोण व्यक्त करने में और फिर इसे एक व्यापक कार्य योजना के रूप में लागू करने में अक्षम होते हैं। साथ ही दल के नेताओं के लिए चुने गए अधिकारियों की गतिविधियों पर नियंत्रण रख पाना कठिन होता है। इन सबके अतिरिक्त यह भी एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि

कार्यपालिका पर प्रधानमंत्री का लगातार नियंत्रण बना रहता है, पर वह स्वयं विधायिका पर आश्रित होता है। इसके फलस्वरूप जब कभी नीति निर्धारण के क्रम में सत्तारूढ़ दल के अन्दर अनुशासन एवं सशक्तता को सुनिश्चित करने का प्रयास किया जाता है,तो दल की स्थिति कमजोर होती है।

यह तर्क दिया गया है कि ''दल का प्रभाव केवल उसी स्थिति में ठोस ढंग से व्यक्त हो सकता है,जब विभिन्न दल विशिष्ट सामाजिक-आर्थिक दशाओं को निरूपित करते हैं। जब किसी राज्य के चुनाव क्षेत्र, सामाजिक एवं आर्थिक आधारों पर विभाजित होते हैं और चुनाव क्षेत्र के इस तरह के विभाजन की ही तरह दल का विभाजन भी होता है, उस स्थिति में केवल दल का कार्यक्रम तथा अनुशासन विधायी 'चैंबरों' में प्रभावी हो पाऐंगे।'' इसके साथ यह तथ्य भी महत्वपूर्ण है कि भारत में प्रायः विपक्षी दलों में एकता का अभाव होता है। परिणामस्वरूप मतदाताओं के समक्ष सशक्त वैकल्पिक नीतियां नहीं आ पाती।

संक्षेप में कहें तो यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से राजनैतिक दल नीति-निर्माण की प्रक्रिया में निर्णायक भूमिका निभाते हैं, वे लोक आकांक्षाओं के साथ पूर्ण तादात्म्य नहीं दिखा पाते हैं। वे महत्वपूर्ण संस्था हैं पर लोक नीति पर उनके प्रभाव को अत्यधिक सकारात्मकता से प्रस्तुत करना सही नहीं होगा।

अभ्यास प्रश्न-

1. नीति निर्धारण से आप क्या तात्पर्य रखते हैं?
2. नीति-निर्माण में राष्ट्रीय विकास परिषद की क्या भूमिका है?
3. दबाव समूह पर प्रकाश डालिए।
4. राजनीतिक दलों की भूमिका की समीक्षा कीजिए।

2.5 सारांश

नीति-निर्माणएक अत्यन्त जटिल विश्लेषणात्मक तथा राजनैतिक प्रक्रिया है, जिसका कोई प्रारम्भ या समापन नहीं होता है और जिसकी सीमाएं पूरी तरह अनिश्चित होती हैं। येन-केन-प्रकारेण शक्तियों की जटिल सामूहिक नीति-निर्माण में कटिबद्ध हैं और सामूहिक रूप से जो प्रभाव उत्पन्न करती हैं,उन्हें नीतियां कहते हैं। संसद के लिए भारतीय संविधान द्वारा कानून पारित करके नीति-निर्माण में लोगों के प्रतिनिधित्व का प्रकार्य सुनिश्चित किया गया है। नीति-निर्माण में प्रत्यक्ष रूप से कुछ संस्थाऐं अपनी सहभागिता नहीं दर्शाती हैं, परन्तु परोक्ष रूप में महती भूमिका अदा करती हैं। जिनका उल्लेख नीति-निर्माण की बाधाओं में किया गया है।

2.6 शब्दावली

येन-केन-प्रकारेण- हर सम्भव प्रत्यन्न, रणनीति- कार्य करने की योजना, युगानुकूल- समय के अनुसार, पूर्वावश्यकताऐं- पहले की आवश्यकताऐं, पूर्वापेक्षा- शर्त या पहले से की गई इच्छा, विरूपित- बुरा, युक्तपरक- ठीक या सही, सम्प्रेषण- संचार, अनुक्रियात्मक- उत्तरदायी

2.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. इसका उत्तर 2.3.1में निहित है।
2. राष्ट्रीय विकास परिषद, पंचवर्षीय योजनाओं में प्रमुख भूमिका निभाती है। इस परिषद में प्रधानमंत्री एवं सभी प्रान्तों के मुख्यमंत्री सम्मिलित होते हैं।

3. दबाव समूह नामक शीर्षक के अन्तर्गत इसकी विस्तृत व्याख्या की गई है। कृपया ध्यान पूर्वक अध्ययन करें।
4. इस प्रश्न के उत्तर लिए विस्तार में पढ़ने के लिए 2.4.4 का अध्ययन आवश्यक है।

2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. लोक नीति- सूत्रीकरण, कार्यान्वयन तथा मूल्यांकन, आर0 के0 सप्रू।
2. लोक प्रशासन के उभरते आयाम, डॉ0 श्रीमती अनुमप शर्मा।
3. प्रशासन एवं लोक नीति, मनोज सिन्हा।

2.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. लोक नीति- सूत्रीकरण, कार्यान्वयन तथा मूल्यांकन, आर0 के0 सप्रू।
2. प्रशासन एवं लोक नीति, मनोज सिन्हा।

2.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारत में लोक नीति-निर्माण में विभिन्न संगठनों की भूमिका का वर्णन कीजिए।
2. राजनीतिक दलों के प्रमुख कार्यों का वर्णन कीजिए।
3. लोक नीति-निर्माण के दबाव समूहों की भूमिका पर प्रकाश डालिए।

इकाई- 3लोक नीति के अध्ययन का महत्व: आधुनिक परिदृश्य

इकाई की संरचना

3.0 प्रस्तावना
3.1 उद्देश्य
3.2लोक नीति के अध्ययन का महत्व
3.2.1 भारतीय परिवेश में महत्व
3.3लोक नीति का आधुनिक परिदृश्य
3.3.1 वैश्विकपरिप्रेक्ष्य
3.3.1.1 वैश्विक स्तर की लोक नीति
3.3.2 घरेलू या भारत के सन्दर्भ में लोक नीति
3.4 सारांश
3.5 शब्दावली
3.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
3.7सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
3.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
3.9निबन्धात्मक प्रश्न

3.0 प्रस्तावना

समाज की उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही जटिलता के साथ-साथ लोक नीति के क्षेत्र का महत्व बढ़ता जा रहा है। यह केवल शासकीय गतिविधियों के कारणों एवं परिणामों का विवरण और व्याख्या से सम्बन्धित नहीं होता वरन् लोक नीति को आकार प्रदान करने वाली शक्तियों के बारे में विज्ञानसम्मत ज्ञान के विकास से भी सम्बन्धित होता है। अध्ययन के अन्तर्गत विषय की सामाजिक व्याधियों को समझने में लोक नीति का अध्ययन सहायक सिद्ध होता है। किसी सामाजिक प्रणाली को अतीत से भविष्य की तरफ गतिशील करने के लिए लोक नीति एक महत्वपूर्ण तंत्र है। उदारीकरण, निजीकरण और भूमण्डलीकरण के वर्तमान चरण में शासन की योग्यता,नीतियां निर्मित करने एवम् उन्हें क्रियान्वित करने में निहित है। लोक नीति में जनता की राजनीतिक क्षमता का सुधार भी सम्मिलित है। नीति-निर्माण का मुख्य लक्ष्य ऐसे मूल्यों का निर्माण करना है, जिनके माध्यम से समाज के प्रत्येक व्यक्ति का समग्र रूप से विकास हो सके।

3.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- लोक नीति के अध्ययन के महत्व को समझ पायेंगे।
- आधुनिक परिदृश्य में लोकतंत्र के वैश्विक और भारत के सन्दर्भ में लोक नीति के अध्ययन के महत्व को समझ पायेंगे।

3.2लोक नीति के अध्ययन का महत्व

आधुनिक प्रशासकीय राज्यों के समस्त दायित्वों की पूर्ति लोक सेवाओं के माध्मय से होती है। अतः सर्वोच्च सत्ता द्वारा निर्मित एवं स्वीकृत लोक नीति का क्रियान्वयन प्रशासनिक कार्यपालिका का वैधानिक दायित्व है। लोक नीति में मूलभूत लक्ष्यों का वर्णन रहता है। अतः व्यवहारिक धरातल पर नीति के क्रियान्वयन का दायित्व सम्बन्धित मंत्रालय का होता है, क्योंकि सम्बन्धित विषयों के आधार पर ही मंत्रालय का गठन किया जाता है। लोक नीति सरकारी निर्णयों से सम्बन्धित महत्वपूर्ण प्रक्रिया है, जिसके विषय में गम्भीरता से ध्यान नहीं दिया गया है। विगत कुछ दशकों से लोक नीति से सम्बन्धित अध्ययन को लोक प्रिय बनाने हेतु नीति विज्ञान की मांग जोरों से उठ रही है, ताकि वर्तमान विज्ञान एवं संचार क्रान्ति के युग में भौतिक साधनों एवं मानवीय संवेदनाओं के मध्य समन्वय स्थापित हो सके। लोक नीति एक समग्र तथा व्यापक अवधारणा है, जिसमें सरकारी क्षेत्र की सभी नीतियां सम्मिलित हैं। कार्यक्षेत्र के आधार पर आर्थिक नीति वह नीति है जिसमें उद्योग, व्यापार, कीमत, लाइसेंस, मुद्रा, उर्जा, राजकोष तथा श्रम से सम्बन्धित नीतियां समाहित हैं। अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों से जुड़ी बहुत सी नीतियां आर्थिक नीति कहलाती हैं। इसी तरह सामाजिक सुरक्षा, विकास परिवर्तन एवम् सुधार से जुड़ी बहुत सी नीतियां एकीकृत रूप में सामाजिक नीति कहलाती है।

लोक नीति का महत्व सदैव विद्यमान रहा है। राजाओं के शासन काल में राजपुरोहित, धर्म गुरू, सेनापति तथा मंत्रीमण्डल के अन्य सदस्य राजा को लोक नीति के प्रत्येक पहलुओं पर परामर्श प्रदान किया करते थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी इसकी विस्तृत व्याख्या की गई है। विभिन्न विषयों पर राज्य की व्यवहारिक लोक नीतियों की अनुशंसा का भी वर्णन है। लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रसार तथा लोककल्याणकारी राज्य की अवधारणा की लोकप्रियता के पश्चात अब लोक नीति के निर्माण तथा सफल क्रियान्वयन पर काफी बल दिया जाता है। लोक नीति ही सरकारी कृत्यों का मुख्य केन्द्र बिन्दु है। लोक नीति के निर्माण तथा क्रियान्वयन में राजनीतिज्ञों तथा प्रशासकों की समान भूमिका रहती है। लोक नीति की आवश्यकता में निम्न बिन्दु महत्वपूर्ण हैं-

1. किसी भी राष्ट्र का संविधान जन आकांक्षाओं तथा शासन के उद्देश्य का मूलभूत दस्तावेज होता है। संवैधानिक आदर्शों तथा प्रावधानों को मूर्त रूप देने के लिए कतिपय विषयवार लोक नीतियां आवश्यक होती हैं, ताकि जन कल्याण का मार्ग प्रशस्त हो सके।
2. वर्तमान समय में राज्य सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन का माध्यम बन गया है। अतः राज्य-प्रायोजित विकास कार्यो तथा परियोजनाओं के लक्ष्य बिना नीति के निर्धारित नहीं हो सकते।
3. जन समस्याओं, जनता की मांगों, राष्ट्रीय आवश्यकताओं तथा अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य के अनुरूप शासन का दृष्टिकोण निर्धारित करने हेतु लोक नीति ही एक मात्र कारगर उपाय है।
4. लोकतंत्र में राजनीतिक दलों की अपनी एक विचारधारा के साथ-साथ व्यवस्था सम्बन्धी विचार भी होती है। जनता के हित में विचारों के क्रियान्वयन में लोक नीति का ही सहारा लेना पड़ता है।
5. लोक नीति संसाधनों के सदुपयोग, वितरण, नियंत्रण तथा निर्देशन की प्रक्रियाओं को सरल बना देती है।
6. सरकारी तंत्र में लोक नीति का बहुत बड़ा योगदान है। इसके कारण शासन व प्रशासन के कार्यों में समरूपता दृष्टिगोचर होती है,वरन् बिखराव की स्थिति में आ सकते हैं।

3.2.1 भारतीय परिवेश में महत्व

भारतीय समाज अधिकांशतः एक पिछड़ा समाज है। गरीबी, भुखमरी, कुपोषण, बेरोजगारी, अशिक्षा, बीमारी, सामाजिक-आर्थिक असमानता, साम्प्रदायिकता आदि विकराल समस्याओं से हमारा देश बुरी तरह जूझ रहा है। इन बुराईयों का सामना और समाधान लोक नीति के माध्यम से किया जा सकता है। इस दृष्टि से भारत जैसे विकासशील देश में राज्य की भूमिका केवल कानून और व्यवस्था देखने तक सीमित नहीं हो सकती।

विकासशील देशों में राजनीति की वही भूमिका नहीं हो सकती,जो कि विकसित देशों में है। विकासशील देशों में राजनीति की व्यापक और महती भूमिका है। भारत जैसे विकासशील देश में राजनीति सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन का सबसे शक्तिशाली माध्यम है। इस देश में तमाम बड़े परिवर्तन राजनीति के माध्यम से ही घटित हुए हैं। सामाजिक परिवर्तन की दिशा में बढ़ाए गए हर एक कदम को राजनीति ने ही सम्भव बनाया है। आज भारत की अधिकांश गरीब जनता के पास अंतिम और एक मात्र ताकत ''वोट'' की ताकत है। इस ''वोट'' की ताकत से ही वह राजनीति को प्रभावित करता है और राजनीति इस ताकत के कारण ही उसका ध्यान रखती है। इसलिए भारत में जब तक लोकतंत्र रहेगा और उसमें गरीबों, शोषितों, पीड़ितों की संख्या बहुसंख्यक होगी, तब तक लोक नीति का महत्व बना रहेगा।

दरअसल राजनीति का क्रियात्मक रूप लोक नीति के माध्यम से ही परिलक्षित होता है। जिस तरह की राजनीतिक ताकतें सत्ता में रहेंगी, लोक नीति का स्वरूप भी उसी तरह का होगा और जिस तरह की लोक नीति होगी उसी तरह हमारी समस्याओं का स्वरूप होगा तथा उसी के अनुरूप बहुसंख्यक जनता की दीन-दशा होगी।

इस प्रकार, एक तरफइस देश की तमाम समस्याओं की जड़ में लोक नीति है,तो दूसरी तरफ इस देश की तमाम समस्याओं का समाधान भी लोक नीति ही है। इस कारणलोक नीति के अध्ययन का महत्व बहुत बढ़ जाता है। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि किसी भी मामले में रूचि रखने वालों के लिए लोक नीति को समझना आवश्यक ही नहीं बल्कि अनिवार्य भी है। यहाँ आकर लोक नीति का क्षेत्र काफी व्यापक और विस्तृत हो जाता है और वह लोक प्रशासन के दायरे सें भी बाहर निकल जाता है।

लोक नीति की हमेशा से दोहरी भूमिका रही है और आज भी है। लोक नीति जहाँ सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन को ला सकती है,वहीं वह इन परिवर्तनों को रोक भी सकती है। इसलिए लोक नीति का निर्धारण काफी सोच-समझकर किया जाना चाहिए। सबसे बड़ी बात है कि लोक नीति का निर्धारण तो सरकार करती है,लेकिन उसका असर आने वाली कई पीढ़ियों पर पड़ता है। नेहरू युग की कई नीतियों का प्रभाव आज भी कायम है। उस दौर की नीतियों के अच्छे और बुरे परिणामों के हम आज भी साक्षी हैं। इस सन्दर्भ में यह कहना कोई अतिसयोक्ति नहीं होगी कि स्वातंत्रयोत्तर भारत का इतिहास बहुत हद तक लोक नीतियों का ही इतिहास है। स्वातंत्रयोत्तर भारत की राजनीति, अर्थव्यवस्था, समाज आदि को समझने के लिए लोक नीतियों का अध्ययन आवश्यक है।

आज दुर्भाग्य यह है कि 65 वर्ष बाद भी लोक नीति की समस्त प्रक्रिया से समाज का बहुसंख्यक भाग गायब है। आज भी नीति-निर्माण प्रक्रिया में उन वंचित तबकों के लिए कोई जगह नहीं है। यह विडंबना ही है कि जो तबका नीतियों से सबसे अधिक प्रभावित होता है और जिसके लिए अधिकांश नीतियां बनाई जाती हैं, वही इस नीति-निर्माण प्रक्रिया से बाहर है। देश की बहुसंख्यक आबादी को दर-किनार कर बनायी गई नीति कभी कारगर नहीं हो सकती। अगर नीतियों को कारगर और प्रभावी बनाना है,तो इसके लिए नीति निर्माताओं को इस प्रक्रिया में बहुसंख्यक जनता की भागीदारी सुनिश्चित करनी होगी।

3.3लोक नीति का आधुनिक परिदृष्य

लोक नीति के आधुनिक परिदृश्य को निम्नाकित बिन्दुओं के माध्यम से समझने का प्रयास करते हैं-

3.3.1 वैश्विक परिप्रेक्ष्य में

विकासशील देशों पर वैश्विक घटनाओं और क्रियाओं का विशेष रूप से प्रभाव पड़ता है और ये वित्तीय एवम् तकनीकी सहायता के लिए अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय पर बहुत अधिक निर्भर रहते हैं। परिणाम स्वरूप राष्ट्रीय नीतियां वैश्विक मुद्दों में अन्तर्निहित हैं। राष्ट्रीय नीतियों को प्रभावित करने में अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण राष्ट्रीय नीति-निर्माण के अधिकांश सन्दर्भ का निर्माण करता है। नीति सम्बन्धी ऐजेन्डा भी अन्तर्राष्ट्रीय बनता जा रहा है। जैसे-जैसे बहुराष्ट्रीय कम्पनियां और अन्तर्राष्ट्रीय संगठन अधिक मात्रा में प्रभावित करने लगे हैं, राष्ट्रीय नीति-निर्माताओं की स्वयं अपना ऐजेन्डा बनाने की क्षमता कम हो गई है। समाज कल्याण, पर्यावरण, औषधियां, व्यापार जैसे राष्ट्रीय मुद्दे बन चुके हैं। इसके साथ-साथ परा-राष्ट्रीय सहयोग भी बढ़ रहा है। भारत भी इससे अछूता नहीं रहा है। वैश्वीकरण से राष्ट्र राज्य और अन्य देशों के मध्य आपसी सम्पर्क की सम्भानाऐं काफी बढ़ गई हैं। राष्ट्रों का दायित्व नीति एजेन्डा पर वैश्विक हो गया है,परन्तु नीति-निर्माण और कार्यान्वयन राष्ट्रीय ही होते हैं। इस प्रकारपरा-राष्ट्रीय कम्पनियों, राष्ट्रीय तथा विश्व अर्थव्यवस्थाओं के मध्य एक नये प्रकार का आपसी सम्बन्ध स्थापित हो चुका है। फलस्वरूप 20वीं शताब्दी के अंतिम चरण में विश्व बैंक और यूरोपीय देशों के दबाव में अपनी व्यापार प्रणालियों में उल्लेखनीय उदारीकरण की शुरूआत की और प्रशुल्क कम किया, व्यापार के गैर-प्रशुल्क अवरोधों को घटायातथा सार्वजनिक उद्यमों का निजीकरण किया। इन कथनों से प्रतीत होता है कि देश की राजनीतिक व्यवस्था भी विश्व व्यवस्था के भीतर कार्य करती है। राजनीतिक व्यवस्थाओं की सीमाऐं अब बाहरी दबावों और प्रभावों से अभेद्य नहीं है। आत्मनिर्भरता के बढ़ते सम्बन्धों के परिणामस्वरूप विश्व एक एकल सामाजिक व्यवस्था सा बन गया है। अल्ब्रो के अनुसार,वैश्वीकरण का अर्थ ''वे सभी प्रक्रियाऐं हैं, जिसके द्वारा विश्व के सभी देशों को एक एकल विश्व समाज में समाविष्ट किया गया है।'' वैश्विकता उन शक्तियों में एक है,जो वैश्वीकरण के विकास में सहायक है। वैश्वीकरण की धारणा के निहितार्थ यह है कि नीति-निर्माताओं को एक वैश्विक सन्दर्भ में ऐजेन्डा के निर्माण और समस्या को निर्धारित करने पर विचार करना चाहिए। प्रत्येक देश के नीति निर्माताओं की समृद्धि, मंदी, दबाव और पुनरलाभ के अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक चक्र द्वारा निर्मित नीतिगत सन्दर्भ में हिस्सेदारी होती है। वैश्विक वातावरण में सरोकारों की अभिसारिता के बारे में चर्चा करना सम्भव है, जिसके लिए वैश्विक कार्य नीतियों का निर्माण किया जाता है। इस तरह एक वैश्विक सन्दर्भ में अधिकाधिक मुद्दों का निर्माण राष्ट्र के लोक नीति-निर्माण के संवैधानिक ढ़ाँचे के बाहर की वृहत्तर शक्तियों द्वारा होगा। इन कथनों से स्पष्ट हो गया कि विश्व स्तर पर बनाई जाने वाली लोक नीतियां, घरेलू नीतियों को भी बहुत प्रभावित करती हैं।

3.3.1.1 वैश्विक स्तर की लोक नीति

1. **पर्यावरण नीति-** वायुएवम् जल प्रदूषण, वनों का नाश और उर्वर मृदा की क्षति संकटपूर्ण समस्याऐं बनती जा रही हैं। जिससे स्वास्थ्य, खाद्यान उत्पादन, उत्पादकता आदि समस्याऐं भीषण चुनौती दे रहा है। पर्यावरण की गुणवत्ता की सुरक्षा और सुधार 1980 के दशक से एक वैश्विक मुद्दा बन चुका है। वैश्विक पर्यावरण पर बढ़ते जोर के कारण, राष्ट्रीय नीति निर्माताओं पर भी सतत् दबाव बन चुका है कि वे अपनी नीति सम्बन्धी स्थिति को परिवर्तित एवम् संशोधित करें। प्रदूषण को नियन्त्रित करने के तौर तरीकों पर अन्तर्राष्ट्रीय करार और पर्यावरणविद्वों के मध्य घनिष्ठ सम्बन्धों ने ऐसी सूचना के आदान-प्रदान की

व्यवस्था की है,जो नीति ऐजेंडा का आकार प्रदान करती है। जून 1992 में ब्राजील में संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण और विकास सम्मेलन में भूमण्डलीय तापमान को नियंत्रित करने और प्रजातियों की विविधता को परिलक्षित रखने के लिए संधियां सम्पन्न हुई। बैठक में पर्यावरण संरक्षण और संपोषणीय विकास के व्यापक सिद्धान्त तथा भिन्न-भिन्न पर्यावरणीय समस्याओं का मुकाबला करने के लिए विस्तृत लोक नीति बनाई गई। आज पूरा विश्व 14 जून को 'पर्यावरण दिवस' मनाता है।

2. **जनसंख्या नियन्त्रण एवम् गरीबी उन्मूलन नीति-** विश्व की जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है और हमारे पास सबकी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए पर्याप्त अनाज नहीं है। जनसंख्या के विस्फोट के खतरे एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के देशों में अधिक हैं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते है कि विकासशील राष्ट्रों में यह भयावह स्थिति उत्पन्न कर रहा है, जिसके कारण वहाँ सामान्य स्वास्थ्य सम्बन्धी और अन्य सुविधाऐं उपलब्ध नहीं हैं। 21वीं शताब्दी शुरू होने के साथ ही बढ़ती जनसंख्या और प्रति व्यक्ति उपभोग का बढ़ता भार प्राकृतिक संसाधनों को क्षीण करते जा रहे हैं, इससे विकासशील राष्ट्रों में निर्धनता का आयाम बढ़ रहा है। गरीबी और जनसंख्या वृद्धि भी वैश्विक मुद्दे बन गये हैं। उदाहरणार्थ निर्धनता का मुकाबला करने के लिए विश्व बैंक ने नये उपागम प्रस्तावित किए हैं। परिवार नियोजन को जनसंख्या वृद्धि को कम करने की एक कार्यनीति के रूप में देखा जाता है। जनसंख्या और विकास सम्बन्धी कार्यक्रम पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन सन् 1994 में कहा गया है कि ''परिवार नियोजन कार्यक्रमों का उद्देश्य पति-पत्नी एवम् व्यक्तियों को इस बात के लिए समर्थ्य बनाने पर होना चाहिए कि वे जनसंख्या का आकार कम करने की दृष्टि से अपने बच्चों की संख्या और उसमें अन्तराल के बारे में स्वतंत्र रूप से और उत्तरदायी रूप से निर्णय ले सकें।''

3. **स्वास्थ्य नीति-** प्रत्येक वर्ष 7 अप्रैल को 'विश्व स्वास्थ्य दिवस' मनाया जाता है। इसके अन्तर्गत आने वाली बहुत सी बीमारियां हैं। यहाँ पर सबका उल्लेख करना सम्भव नहीं है। परन्तु कुछ बीमारियों एवम् उनके निदान पर वैश्विक सोच निरन्तर प्रयासरत है। पोलियो से ग्रसित ना हो इसलिए दवा की 'दो बूंद' ज्वलंत उदाहरण है। ऐसे ही तपेदित(TB) से बचने के लिए उनका समग्र रूप से उपचार एवम् खान-पान का दिशा-निर्देष व्यापक रूप से प्रसारित किया जाता है। इसी प्रकार 'एड्स' अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के लिए गम्भीर चिंता का विषय बन चुका है। एच0आई0वी0/एड्स से कई मिलियन लोग विश्व भर में ग्रसित हो रहे हैं। इस महामारी से सकल राष्ट्रीय उत्पाद पर भारी प्रभाव पड़ रहा है। ये सब वैश्विक मुद्दे हैं, जिसके समाधान में अन्तर्राष्ट्रीय एवम् राष्ट्रीय स्तर पर कई कठोर कदम उठाये जा रहे हैं।

4. **आतंकवाद समाप्त करने की नीति-** आतंकवाद एक अन्य वैश्विक समस्या है,जो कैंसर की तरह फैल रहा है। 21वीं शताब्दी में विश्व भर का प्रमुख शत्रु आतंकवाद है। आंतकवाद की छाया राष्ट्रीय एवम् अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यापक रूप से मौजूद है। विशेष रूप से उप-भारतीय महाद्वीप इससे काफी अशांत है। अबवैश्विक आतंकवाद से लड़ने के लिए वैश्विक सहयोग की आवश्यकता है। संयुक्त राज्य अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन और यूरोपीय संघ ने भारत के संसद 13 दिसम्बर, 2001 के आतंकवादी हमले के बाद पाकिस्तान के विरूद्ध कार्यवाही की। इसी प्रकार, अपने सदस्यों के मध्य मतभेदों को दरकिनार करते हुए दक्षेस की स्थायी समिति ने 1 जनवरी, 2002 को इस बात का संकल्प लिया कि संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद के आतंकवाद विरोधी प्रस्ताव को इसकी समग्रता में कार्यान्वित किया जाए।

5. **व्यापार एवम् उद्योग नीति-** वैश्विक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप उद्योग जगत में भी काफी परिवर्तन घटित हुए हैं। वैश्विक स्थानान्तरण के प्रमुख स्रोत परा-राष्ट्रीय सरकारों द्वारा अपनायी गई नीतियांऔर

परिवहन, संचार तथा उत्पादन की समर्थकारी प्रौद्योगिकीयां हैं। इससे राष्ट्रीय सरकारों की उन परिवर्तनों से स्वतंत्र रहकर नीतियों का निर्माण करने की क्षमता बहुत हद तक कमजोर हुई है। वैश्विक औद्योगिक वातारण का राष्ट्रीय प्रक्रियाओं के साथ आपसी सम्पर्क होता है और परिणामस्वरूप राष्ट्रीय नीतियां ऐसे कार्य-कलापों और घटनाओं से काफी प्रभावित होती हैं।

3.3.2 घरेलू या भारत के सन्दर्भ में लोक नीति

हम वैश्विक नीतियों की काफी चर्चा कर चुके हैं। भारत भी लोक नीति-निर्माण प्रक्रिया में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से उन्हीं नीतियों से प्रेरित हैं। यहाँ पर नीति-निर्माण की प्रक्रिया में योजना आयोग एवम् राष्ट्रीय विकास परिषद दोनों की ही महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। योजना आयोग एक परामर्शदाता निकाय के रूप में प्रचलित है, जिसकी स्थापना सन् 1950 में हुई थी। आयोग देश के सामाजिक, आर्थिक विकास के नीति-निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। राष्ट्रीय विकास परिषद की स्थापना सन् 1952 में हुई थी,इसके सदस्य प्रधानमंत्री, केन्द्रीय मंत्री, राज्यों तथा केन्द्र शासित प्रदेशों के मुख्यमंत्री योजना आयोग के सदस्य होते हैं। भारत के संविधान में वर्णित नीति-निदेशक तत्वों में राज्य के लिए उन प्रयासों का वर्णन किया गया है,जो श्रमिक, निर्धन, पिछड़े, अशक्त, बालक तथा समाज की दृष्टि में हेय व्यक्ति के उत्थान के लिए आवश्यक है। लोक नीति के माध्यम से इन्हीं वर्गों के उत्थान के प्रयास किये जाते हैं। निम्न में कुछ नीतियों को वर्णित किया जा रहा है-

1. **जनसंख्या नीति-**15 फरवरी, 2000 को भारत की नई राष्ट्रीय जनसंख्या नीति की घोषणा की गई। इस नीति के प्रमुख प्रावधान इस प्रकार है। सन् 2026 तक लोक सभा की सीटों में वृद्धि नहीं की जाएगी। भारत की जनसंख्या का स्थिरीकरण सन् 2045 तक कर लिया जायेगा। इस हेतु प्रजनन दर 2.1 के स्तर तक लायी जायेगी। दो बच्चों का मानदण्ड जारी रहेगा। छोटे परिवार की अवधारणा को प्रोत्साहित करने वाली पंचायतों तथा जिला परिषदों को पुरस्कृत किया जाएगा।
2. **निःशक्तता ग्रस्त व्यक्तियों हेतु राष्ट्रीय नीति-** दिसम्बर 2005 में घोषित राष्ट्रीय निःशक्तिजन नीति के द्वारा निःशक्तिजनों के अधिकारों की रक्षा, पुनर्वास, शिक्षा तथा आर्थिक उन्नयन सहित निःशक्तता की रोकथाम के प्रयासों को प्राथमिकता दी गई है।
3. **आरक्षण नीति-** समाज के विभिन्न जातियों को आरक्षित कर,उन्हें विकास की मुख्य धारा से जोड़ने के लिए इस नीति को लागू किया गया। लोकतांत्रिक प्रणाली में पंचायती राज संस्थाओं एवं शहरी निकाय में अनुसूचति जाति, अनुसूचित जनजाति, पिछड़ा वर्ग एवम् महिलाओं की भागीदारी सुनिश्चित करने के लिए इनको आरक्षण प्रदान किया गया है। ऐसे ही शिक्षा के जगत में इनको जनसंख्या के आधार पर 21 प्रतिशत, 3 प्रतिशत एवम् 27 प्रतिशत आरक्षण प्राप्त है।
4. **स्वैच्छिक क्षेत्र सम्बन्धी राष्ट्रीय नीति-** सन् 2007 में इन संगठनों की निम्नांकित विशेषताऐं बतायी गई हैं। पहला- ये निजी होते हैं,अर्थात् सरकार से भिन्नये अर्जित लाभ को अपने मालिकों को नहीं लौटाते हैं। ये स्वशासित होते हैं। ये संगठन निर्धारित लक्ष्यों एवं उद्देश्यों के साथ पंजीकृत संगठन या अनौपचारिक समूह होते हैं। दूसरा-ऐसे ही बहुत सारी लोक नीतियां हैं, जिसमें राष्ट्र के विकास में समाज के प्रत्येक इकाई का योगदान आपेक्षित है। अन्ततोगत्वा राष्ट्र विकसित, सशक्त एवम् समृद्धशाली होगा।

अभ्यास प्रश्न-

1. लोक नीति के अध्ययन के महत्व पर टिप्पणी लिखिए।
2. लोक नीति के वैश्विक परिप्रेक्ष से क्या तात्पर्य है?

3. आतंकवाद समाप्त करने की नीति पर संक्षिप्त विवरण दीजिए।
4. भारत में पर्यावरण दिवस कब बनाया जाता है?

3.4 सारांश

सामान्यतः यह अहसास किया गया है कि विकासशील लोकतांत्रिक राष्ट्रों में लोक नीति वैश्विक शक्तियों से प्रेरित है,जिससे आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक नीतियां काफी प्रभावित होती हैं। 1990 के दशक तक विश्व भर के राष्ट्र सार्वजनिक उद्यमों का निजीकरण करने में काफी सक्रिय रहे। वैश्विक सन्दर्भ में साझा मुद्दों और समस्याओं की उत्तरोत्तर रूप में पहचान अन्तर्राष्ट्रीय अर्थों में की जा सकती है, परन्तु नीति-निर्माण और कार्यान्वयन करने की प्रकृति राज्यों में समाहित होती है। लोक नीति के अध्ययन का महत्व आज के सन्दर्भ में प्रासांगिक इसलिए है कि विकासशील राष्ट्र बहुत सी चुनौतियों से ग्रसित हैं। फलस्वरूप उनके विकास की दर बहुत कम है। चुनौतियों से निपटने के लिए भिन्न-भिन्न नीतियां निर्मित की जाती हैं। विकास एवं सुशासन के लिए गरीबी उन्मूलन, सर्व शिक्षा अभियान, स्वास्थ्य कार्यक्रम आदि महत्वपूर्ण घटक हैं। इन कार्यक्रमों के प्रति जागरूकता लाना एवं सक्रिय सहभागिता लोक नीति के माध्यम से बहुत हद तक सम्भव है।

3.5 शब्दावली

प्रशुल्क- आयात व निर्यात पर लगने वाला कर, प्रौद्योगिकी- प्राविधिकी, वैश्विक- विश्व स्तर पर, निःशक्तता- शक्तिहीन, पर्यावरण- चारों और का प्राकृतिक आवरण, बहुलांश- नागरिकों की अधिक सहभागिता, अभिसारिता- आगे बढ़ना

3.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. लोक नीति के महत्व को 4.2 में समझा जा सकता है।
2. वैश्विक परिप्रेक्ष को जानने के लिए 4.3.1 को अध्ययन करना पड़ेगा। सामान्यतः सम्पूर्ण विश्व के सन्दर्भ में वैश्विक शब्द का प्रयोग होता है।
3. आतंकवाद राष्ट्रीय एवम् अन्तर्राष्ट्रीय समस्या है। वर्तमान युग में यह सम्पूर्ण जगत को चुनौती दे रहा है। विश्व इससे निपटने के लिए सदैव तत्पर है और इसको समाप्त करने के वास्ते लोक नीतियों का निर्माण किया गया है। ज्यादा विस्तृत जानकारी के लिए इसके समापन की नीति को पढ़ना होगा।
4. पर्यावरण दिवस जानने से पहले पर्यावरण को समझना नितान्त आवश्यक है। इसके प्रदूषण से होने वाली समस्याओं का निदान पर्यावरण लोक नीति में बताया गया है। वैसे ये दिवस पूरे विश्व में 14 जून को मानया जाता है। प्रदूषण को रोकने के उपायों के प्रति जागरूकता अभियान भी चलाया जाता है।

3.7सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. विकास प्रशासन, ए0 पी0 अवस्थी।
2. सामाजिक प्रशासन, सुरेन्द्र कटारिया।
3. प्रशासन एवं लोक नीति, मनोज सिन्हा।
4. लोक प्रशासन के उभरते आयाम, अनुपम शर्मा।

3.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. विकास प्रशासन, ए0 पी0 अवस्थी।
2. सामाजिक प्रशासन, सुरेन्द्र कटारिया।
3. प्रशासन एवं लोक नीति, मनोज सिन्हा।
4. लोक प्रशासन के उभरते आयाम,अनुपम शर्मा।

3.9निबन्धात्मक प्रश्न

1. लोक नीति से आप क्या समझते हैं? इसके उद्देश्य एवम् महत्व की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. लोक नीति के महत्व का वैश्विक परिदृश्य के सन्दर्भ में विस्तृत व्याख्या कीजिए।
3. लोक नीति का निर्माण भारत में कितना प्रभावशाली है? उदाहरण सहित इसकी विवेचना कीजिए।

इकाई- 4नीति-निर्माण में राजनीतिक कार्यपालिका की भूमिका

इकाई की संरचना

4.0 प्रस्तावना
4.1 उद्देश्य
4.2 राजनीतिक कार्यपालिका का अर्थ
4.3 नीति-निर्माण में राजनीतिक कार्यपालिका की भूमिका
4.3.1 मंत्रीमण्डलएवं प्रधानमंत्री की भूमिका
4.3.2 मंत्रीमण्डलीय सचिवालय की भूमिका
4.3.3 मंत्रीमण्डलीय समितियों की भूमिका
4.3.4 प्रधानमंत्री कार्यालय की भूमिका
4.3.5 मंत्रीमण्डलीय सचिवालय एवं प्रधानमंत्री कार्यालय की भूमिका
4.4 नीतिगत मुद्दों का चयन
5.4.1 नीतिगत मुद्दे एवं जनमत
4.5 नीतिगत कार्यवृत्त की पहचान
4.6 नीतिगत प्रस्ताव की पहचान: कुछ तकनीक
4.7 सारांश
4.8 शब्दावली
4.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
4.10सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
4.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
4.12निबन्धात्मक प्रश्न

4.0 प्रस्तावना

लोकतंत्र में लोक नीति की अवधारणा का व्यापक महत्व है। किसी देश के सामाजिक-आर्थिक रुपाँतरण में इन नीतियों की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। सरकार द्वारा अपनी जनता के लिए बनाई जाने वाली नीतियाँ ही लोक नीति कही जाती हैं। यह सरकार का एक महत्वपूर्ण कार्य है। वर्तमान में जनता की देखभाल का जिम्मा सरकारों पर होता है। उसे अनेक किस्म के कार्य करने पड़ते हैं और प्रत्येक कार्य के पहले नीतियाँ मार्गदर्शक का काम करती हैं। नीतियों के बिना सरकार नहीं चल सकती और सरकार के बिना लोकतंत्र की धारणा व्यर्थ है। वास्तव में नीति वह साधन या माध्यम है,जिसके सहारे लक्ष्यों को प्राप्त किया जाता है। नीति-निर्माण को लोक प्रशासन का केन्द्रीय तत्व माना गया है,क्योंकि नीति-निर्माण प्रक्रिया में सरकार के तीनों अंग- कार्यपालिका, व्यवस्थापिका एवं न्यायपालिका, किसी ना किसी रूप में सम्बद्ध होते हैं। प्रस्तुत इकाई में नीति-निर्माण में राजनीतिक कार्यपालिका की भूमिका का विश्लेषण किया गया है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप नीतिगत मुद्दों का चयन, नीतिगत कार्यवृत्त की पहचान तथा नीतिगत प्रस्ताव की पहचान के तकनीकों के बारे में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे तथा इसकी भूमिका का विश्लेषण करने में भी समर्थ होंगे।

4.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- राजनीतिक कार्यपालिका के अर्थ एवं कार्य के बारे में जान सकेंगे।
- नीति-निर्माण में प्रधानमंत्री, मंत्रीमण्डल एवं मंत्रीमण्डलीय समितियों की भूमिका के बारे में भी जान सकेंगे।
- मंत्रीमण्डलीय सचिवालय एवं प्रधानमंत्री कार्यालय की भूमिका एवं कार्य के बारे में भी आपको ज्ञान प्राप्त होगा।
- नीतिगत मुद्दों, नीतिगत कार्यवृत्त एवं प्रस्तावों की पहचान प्रक्रिया को इंगित कर पाऐंगे।
- नीति-निर्माण में जनमत की भूमिका का भी ज्ञान होगा।

4.2 राजनीतिक कार्यपालिका का अर्थ

कार्यपालिका सरकार का वह अंग है, जिसका कार्य विधानमण्डल द्वारा पारित विधेयकों का क्रियान्वयन करना है। कार्यपालिका का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है- व्यापक अर्थ में, कार्यपालिका के अन्तर्गत वे सभी अधिकारी एवं कर्मचारी आते हैं,जिनका सम्बन्ध प्रशासन से होता है। संकुचित अर्थ में कार्यपालिका के अन्तर्गत वे राजनीतिक अधिकारीगण आते हैं,जिनका सम्बन्ध नीति-निर्माण तथा उसके क्रियान्वयन से होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति तथा उसके सचिव, ब्रिटेन में सम्राट तथा उसके मंत्रीमण्डल तथा फ्रान्स में राष्ट्रपति तथा मंत्रीमण्डल, कार्यपालिका के अन्तर्गत आते हैं। लापोलाम्बरा ने सरकार, कार्यपालिका तथा नौकरशाही में अन्तर बताया है। मैक्रिडीस के अनुसार,राजनीतिक कार्यपालिका राजनीतिक समाज के शासन हेतु औपचारिक उत्तरदायित्व निभाने वाली संस्थागत व्यवस्था है। आधुनिक काल में राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत कार्यपालिका में कार्यपालिका के प्रधान एवं मंत्रीमण्डल शामिल हैं, वहीं असैनिक सेवा तथा आई0ए0एस0 स्तर के कर्मचारी इसमें नहीं आते हैं।

किसी देश की राजनीतिक कार्यपालिका का स्वरुप एवं संगठन वहाँ की संवैधानिक व्यवस्था द्वारा निर्धारित किया जाता है। विश्व में राजनीतिक कार्यपालिका के विविध स्वरुप हैं, यथा-

- राजनीतिक कार्यपालिका एवं स्थायी कार्यपालिका;
- नाममात्र की कार्यपालिका एवं वास्तविक कार्यपालिका;
- एकल कार्यपालिका एवं बहुल कार्यपालिका;
- संसदीय कार्यपालिका एवं अध्यक्षात्मक कार्यपालिका;
- स्वेच्छाचारी कार्यपालिका एवं उत्तरदायी कार्यपालिका आदि।

राजनीतिक कार्यपालिका के किसी रूप की उपयोगिता एवं सार्थकता उस देश की परिस्थितियों एवं जनसंख्या के चरित्र पर निर्भर करती है।

राजनीतिक शासन व्यवस्था के विभाजन का एक प्रमुख आधार कार्यपालिका का स्वरूप है। कार्यपालिका एवं विधायिका के परस्पर सम्बन्धों के आधार पर शासन दो रूपों में बाँटा जा सकता है- संसदीय एवं अध्यक्षीय। आधुनिक लोकतन्त्र के युग में सरकार के विभाजन का प्रमुख आधार पर यही है।संसदीय शासन व्यवस्था में

राजनीतिक कार्यपालिका के अन्तर्गत राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, मंत्रीमण्डल, सचिवालय, विभिन्न मामलों से सम्बन्धित मंत्रीमण्डलीय समितियों और प्रधानमंत्री कार्यालय की भूमिका महत्वपूर्ण होती है, वहीं अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में राष्ट्रपति एवं उसका मंत्रीमण्डल नीति-निर्माण की पहल करता है। भारत एवं ब्रिटेन जैसे संसदीय शासन प्रणाली वाले देशों में नीति-निर्माण मुख्यतः मंत्रीमण्डल द्वारा ही किया जाता है। किसी भी प्रकार के नीतिगत प्रस्ताव की स्वीकृति मंत्रीमण्डल से आवश्यक होती है। वस्तुतः प्रधानमंत्री मंत्रीमण्डल की धुरी होता है। निश्चित रूप से नीति-निर्माण में उसकी विशेष भूमिका होती है।

4.3 नीति-निर्माण में राजनीतिक कार्यपालिका की भूमिका

नीति-निर्माण एक अनवरत चलनेवाली प्रक्रिया है। नीति ना तो कोई स्थिर विधा है और ना ही स्थायी। गतिशीलता एवं लचीलापन नीतियों का प्राण तत्व है। परिस्थितियों के अनुरूप नीतियों में परिवर्तन आवश्यक हो जाता है। समय-समय पर उभरनेवाले मुद्दों एवं समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में नीतियों का पुनःनिर्धारण भी आवश्यक होता है। साथ ही नीति-निर्माण के एक जटिल प्रक्रिया होने के कारण इसमे सरकार के विभिन्न अंग एवं अन्य गैर-सरकारी माध्यम सशक्त भूमिका अदा करते हैं।

किसी भी देश की शासन व्यवस्था उसके राजनीतिक जीवन का अभिन्न अंग होती है। यह राज्य की नीतियों को लागू कर उसके लक्ष्यों को साकार बनाती है तथा उसे सार्थकता प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। राजनीतिक कार्यपालिका प्रत्येक देश के लोक प्रशासन का शीर्षस्थ अभिकरण है। यह प्रशासन के राजनीतिक अध्यक्ष के रूप में समस्त प्रशासन का निर्देशन, पर्यवेक्षण एवं नियन्त्रण करती है। यह सभी प्रशासनिक अभिकरणों को नेतृत्व प्रदान करती है,विविध इकाईयों के मध्य समन्वय भी स्थापित करती है। प्रशासनिक कार्यकुशलता एवं मितव्ययिता इस पर ही निर्भर करती है।

संसदीय प्रणाली वाले देशों में नीति-निर्माण एवं प्रशासन एक-दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़े होते हैं। वस्तुतः विधायिका के सदस्य ही कार्यपालिका का निर्माण करते हैं और कार्यपालिका विधायिका के प्रति उत्तरदायी होती है। इन्हीं कारणों से नीति-निर्माण एवं प्रशासन के मध्य एक अटूट रिश्ता हो जाता है। इस सन्दर्भ में पीटर ओडेगार्ड का कथन बिल्कुल सही है कि ''नीति और प्रशासन राजनीति के जुड़वा बच्चे हैं,जो एक-दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते हैं।'' उपरोक्त कथन नाकेवल संसदीय प्रणाली वाले देशों के लिए सही है,बल्कि अध्यक्षीय प्रणाली वाले देशों के सन्दर्भ में भी बहुत हद तक सही है, जहाँ शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धान्त लागू होता है।

भारत में संसदीय शासन व्यवस्था होने के कारण लोक नीति-निर्माण की केन्द्रीय धुरी मंत्रीमण्डल है, जिसका प्रधान प्रधानमंत्री होता है। वस्तुतः प्रधानमंत्री केन्द्रीय कार्यपालिका का वास्तविक प्रधान होता है। राष्ट्रपति मंत्रीमण्डल की सलाह से कार्य करता है तथा उसकी भूमिका नाममात्र के प्रधान की होती है। समय के उभरते प्रतिमानों के फलस्वरूप संसदीय प्रणाली मंत्रीमण्डलीयप्रणाली के बाद अब प्रधानमंत्रीय प्रणाली में परिवर्तित हो चुकी है। वास्तविकताओं के आधार पर ही सर्वप्रथम आइवर जेंनिंग्स ने संसदीय प्रणाली को कैबिनेट या मंत्रीमण्डलीय प्रणाली की संज्ञा दी थी। तत्पश्चात् आर0एच0एस0क्रॉस्मैन ने प्रधानमंत्री पद की महत्ता को देखते हुए संसदीय प्रणाली को प्रधानमंत्रीय प्रणाली कहा।स्पष्ट रूप से जमीनी हकीकत प्रधानमंत्री एवं उसके मंत्रीमण्डल की निर्णायक भूमिका को इंगित करते हैं। राज्यों का संघ भारत,एक सम्पूर्ण प्रभुतासम्पन्न समाजवादी धर्मनिरपेक्ष लोकतांत्रिक गणराज्य है,जिसमें संसदीय प्रणाली की सरकार है। गणराज्य उस संविधान की व्यवस्थाओं के अनुसार प्रशासित होता है,जो 26 नवम्बर, 1949 को संविधान सभा द्वारा स्वीकृत किया गया और 26 जनवरी, 1950 को लागू हुआ।

भारत के राष्ट्रपति संघ की कार्यपालिका के संवैधानिक प्रमुख होते हैं। संविधान का अनुच्छेद-74(1) यह निर्दिष्ट करता है कि कार्य संचालन में राष्ट्रपति की सहायता करने तथा उन्हें परामर्श देने के लिए प्रधानमंत्री के नेतृत्व में एक मंत्रीपरिषद होगी तथा राष्ट्रपति उसके परामर्श से ही कार्य करेंगे। इस प्रकार कार्यपालिका की वास्तविक शक्ति प्रधानमंत्री के नेतृत्व में गठित मंत्रीपरिषद् में निहित होती है। मंत्रीपरिषद सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी है।संविधान मंत्रियों की श्रेणी निर्धारित नहीं करता है। मंत्रीपरिषद एक संयुक्त निकाय है,जिसमें सामान्यतः तीन प्रकार के मंत्री होते हैं। यह देश का सर्वाधिक महत्वपूर्ण निर्णय लेने वाला निकाय है। इसके द्वारा स्वीकृत निर्णय अपने आप मंत्रीपरिषद द्वारा स्वीकृत निर्णय मान लिये जाते हैं। राजनीतिक कद एवं प्रशासनिक अनुभव के आधार पर कैबिनेट मंत्री सर्वाधिक वरिष्ठ मंत्री होते हैं,उनकी सहायता हेतु राज्य मंत्री तथा उपमंत्री होते हैं। कैबिनेट मंत्री को कैबिनेट बैठक में बैठने का अधिकार होता है। संविधान का अनुच्छेद-52 उन्हें यह मान्यता प्रदान करता है।राज्यमंत्री द्वितीय स्तर के मंत्री होते हैं। सामान्यत: उन्हें मंत्रालय का स्वतंत्र प्रभार नहीं मिलता,परन्तु प्रधानमंत्री राजनीतिक कद के अनुसार चाहे तो यह कर सकता है। सामान्यतः उन्हें कैबिनेट बैठक में आने का अधिकार नहीं होता। उपमंत्री कनिष्ठतम मंत्री हैं। उनका पद सृजन कैबिनेट या राज्य मंत्री को सहायता देने हेतु किया जाता है।

भारत सरकार (कार्य आबंटन) नियम 1961, भारत सरकार के कार्य के आबंटन के लिए संविधान की धारा-77 के तहत राष्ट्रपति द्वारा बनाए गए हैं। सरकार के मंत्रालय/विभाग राष्ट्रपति द्वारा इन नियमों के तहत प्रधानमंत्री की सलाह पर सृजित किए जाते हैं। सरकार के कार्य मंत्रालयों/विभागों, सचिवालयों तथा कार्यालयों (जिन्हें 'विभाग' कहा जाता है) में इन नियमों के तहत निर्दिष्ट विषयों के वितरण के अनुसार किए जाते हैं। राष्ट्रपति द्वारा प्रधानमंत्री की सलाह पर प्रत्येक मंत्रालय का कार्य एक मंत्री को सौंपा जाता है। आम तौर पर प्रत्येक विभाग नीतिगत मुद्दों और सामान्य प्रशासन पर मंत्री को सहायता देने के लिए एक सचिव के प्रभार में कार्य करता है।

4.3.1 मंत्रीमण्डल एवं प्रधानमंत्री की भूमिका

भारतीय संवैधानिक व्यवस्था में कार्यपालिका की वास्तविक शक्तियां मंत्रीमण्डल में निहित होती है। समस्त नीतिगत निर्णय सामूहिक रूप से मंत्रीमण्डल लेता है।संविधान की व्यवस्था के अनुसार संसदीय शासन व्यवस्था में राष्ट्रपति नाममात्र का कार्यकारी प्राधिकारी एवं प्रधानमंत्री वास्तविक कार्यकारी प्राधिकारी होता है। अर्थात् राष्ट्रपति देश का प्रमुख होता है और प्रधानमंत्री सरकार का। राज्य का प्रमुख, सरकार का प्रमुख ना होकर मात्र संवैधानिक प्रमुख ही होता है। केन्द्र स्तर पर राष्ट्रपति को मंत्रणा देने हेतु प्रधानमंत्री के नेतृत्व में मंत्रीपरिषद भी कार्य करता है, जिसकी सलाह के अनुसार ही राष्ट्रपति कार्य करता है। राष्ट्रपति मंत्रीगण की नियुक्ति उस की सलाह से ही करता है तथा मंत्रीपरिषद के विभाग का निर्धारण भी वही करता है।

भारत जैसे संसदीय प्रजातंत्र में मंत्रीमण्डल प्रशासनिक पदसोपान का शीर्षस्थ अंग है। यह सरकार की सामान्य नीतियों का निर्माण करती है तथा विविध मंत्रालयों एवं विभागों के मध्य सहयोग एवं समन्वय भी स्थापित करती है। प्रशासनिक सुधार आयोग (सन्1966से 70)के शब्दों में "मंत्रीमण्डल नीतियों के अंतिम निर्धारण के लिए उत्तरदायी है और साथ ही साथ यह सरकार के समस्त कार्यों, प्रशासनिक संगठन के सामान्य निर्देशन, समन्वय और निरीक्षण के लिए भी उत्तरदायी है।" इस सन्दर्भ में "रसोई मंत्रीमण्डल " (किचेन कैबिनेट) का जिक्र भी उचित प्रतीत होता है। यह राजनीतिक प्रमुख के गैर-सरकारी सलाहकारों का वह समूह है, जो सरकारी मंत्रीमण्डल से अधिक प्रभावशाली होता है। रसोई मंत्रीमण्डल का प्रयोग सलाहकारों के उस अनौपचारिक समूह के लिए मौलिक

रूप से किया गया था,जिससे अमेरिकी राष्ट्रपति परामर्श लिया करते थे। भारत में भी श्रीमती इंदिरा गाँधी के कार्यकाल में ऐसे मंत्रीमण्डल की मौजूदगी कही जाती है।

प्रधानमंत्री को देश का सबसे महत्वपूर्ण राजनैतिक व्यक्तित्व माना जाता है।प्रधानमंत्री की दशा समानों में प्रधान की तरह है। वह कैबिनेट का मुख्य स्तम्भ है तथा सभी नीतिगत निर्णय वही लेता है। राष्ट्रपति तथा मंत्री परिषद के मध्य सम्पर्क-सूत्र भी वही है। प्रधानमंत्री समस्त नियुक्तियों एवं पदस्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। हालाकि प्रधानमंत्री समस्त नीतियों के निर्माण में सीधे तौर से जुड़ा नहीं होता है,फिर भी उसकी छाप हरेक नीति पर दिखाई देती है। संसद में बहुमत दल के नेता होने ने नाते संसदीय कार्य प्रणाली में उसकी महत्वपूर्ण दखल होती है। संसदीय प्रजातंत्र में मंत्रीमण्डल के प्रमुख के रूप में वास्तव में प्रधानमंत्री देश का सर्वाधिक शक्तिशाली व्यक्ति प्रतीत होता है। समस्त राजनीतिक निर्णयों में उसकी भूमिका को देखते हुए ही उसे ''मंत्रीमण्डलीय गुम्बद की आधारशिला'' कहा गया है।

4.3.2 मंत्रीमण्डलीय सचिवालय की भूमिका

समस्त प्रशासकीय कार्यों की जिम्मेदारी मंत्रीमण्डल पर होती है, जिसके सहायतार्थ मंत्रीमण्डलीय सचिव एवं मंत्रीमण्डलीय सचिवालय की स्थापना की गयी है। मंत्रीमण्डलीय सचिवालय प्रधानमंत्री के प्रभार के अधीन है। मंत्रीमण्डलीय सचिव इस सचिवालय का प्रशासनिक प्रमुख है,जो सिविल सेवा बोर्ड का भी पदेन अध्यक्ष होता है। भारत सरकार (कार्य आबंटन) नियम- सन्1961 में ''मंत्रीमण्डलीय सचिवालय'' को नियमों की प्रथम अनुसूची में स्थान दिया गया है। इस सचिवालय को आबंटित विषय हैं- मंत्रीमण्डल तथा मंत्रीमण्डलीय समितियों को सचिवीय सहायता और कार्य के नियम।

मंत्रीमण्डलीय सचिवालय भारत सरकार (कार्यकरण) नियम-सन्1961 तथा भारत सरकार (कार्य आबंटन) नियम-सन्1961 के प्रबन्धन के लिए उत्तरदायी है। इन नियमों का पालन सुनिश्चित करते हुए मंत्रालयों/विभागों में कार्य का सुचारु रूप से संचालन में आसानी होती है। सचिवालय सरकार के लिए अन्तर-मंत्रालय सहयोग सुनिश्चित करता है तथा मंत्रालयों एवं विभागों के बीच मतभेद भी दूर करने का प्रयास करता है।मंत्रीमण्डलीय सचिवालय सचिवों की स्थायी तथा तदर्थ समितियों को युक्तिपूर्ण रूप से उपयोग कर सरकार को सहायता प्रदान करता है। इस प्रक्रिया के द्वारा नई नीतिगत पहलों को भी प्रोत्साहन दिया जाता है।

मंत्रीमण्डलीय सचिवालय यह सुनिश्चित करता है कि राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति और मंत्रियों को उनकी गतिविधियों के मासिक सारांश के माध्यम से सभी मंत्रालयों एवं विभागों की प्रमुख गतिविधियों के बारे में सूचना दी जाए। देश में प्रमुख संकट की परिस्थितियों के प्रबन्धन और इन परिस्थितियों में विभिन्न मंत्रालयों के समन्वय की गतिविधियां भी मंत्रीमण्डलीय सचिवालय के कार्यों में से एक है।

मंत्रीमण्डलीय सचिवालय को अन्तर-मंत्रालय समन्वय को प्रोत्साहन देने के लिए विभाग द्वारा एक उपयोगी प्रक्रिया के रूप में देखा जाता है, क्योंकि मंत्रीमण्डलीय सचिव नागरिक सेवाओं के प्रमुख भी हैं। सचिवों द्वारा मंत्रीमण्डलीय सचिव को समय-समय पर विकासों की जानकारी देना अनिवार्य समझा जाता है। कार्य नियमों के निर्वहन के लिए भी उन्हें अनौपचारिक रूप से मंत्रीमण्डलीय सचिव को जानकारी देनी होती है, विशेष रूप से यदि वे इनमें से किसी नियम से परे जा रहे हों। इसके अतिरिक्त अन्य महत्वपूर्ण कार्य भी करता है, यथा निगरानी, समन्वय तथा नयी नीतिगत पहलों को प्रोत्साहित करना आदि। मंत्रीमण्डल की बैठकें बुलाना, कार्यसूची का निर्माण एवं परिचालन, विचार-विमर्श के अभिलेखों का परिचालन तथा निर्णयों के कार्यान्वयन पर निगरानी रखना भी मंत्रीमण्डलीय सचिवालय का प्रमुख कार्य है।

4.3.3 मंत्रीमण्डलीय समितियों की भूमिका

मंत्रीमण्डल की भूमिका नीति-निर्माण में सर्वाधिक महत्वपूर्ण होती है। मंत्रीमण्डल अपना कार्य विभिन्न समितियों के माध्यम से करता है। मंत्रीमण्डलीय समितियां एक महत्वपूर्ण लेकिन अनौपचारिक निर्माण हैं, जो 20वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षो में ग्रेट-ब्रिटेन में स्थापित किये गए थे, अनन्तर इनका अस्तित्व बना रहा।यह भारत में मंत्रीमण्डल के आवश्यक सहयोगी के रूप में कार्य करता रहा है।भारत में मंत्रीमण्डलीय समितियां दो प्रकार की हैं- स्थायी और अस्थायी। सामान्य तौर पर स्थायी समितियों की संख्या 10 से अधिक होती है,जबकि अस्थायी समितियां आवश्यकता पड़ने पर गठित की जाती रही हैं। सामान्यतः मंत्रीमण्डल के पास अत्यधिक कार्य होता है और उसके पास उन्हें निपटाने के लिए सीमित समय होता है। इस प्रकार प्रत्येक मामले पर विस्तृत और सुव्यवस्थित ढंग से जाँच कर पाना और उन पर विचार किया जाना असम्भव हो जाता है,इसलिए मंत्रीमंडल के कतिपय कार्यों को समितियों को सौंपा जाना एक सामान्य परिपाटी बन गई है। यह इस बात से और भी आवश्यक हो गया है कि समिति के पास उसे भेजे गए किसी मामले के सम्बन्ध में विशेषज्ञता होती है। किसी समिति में मामले पर पेशेवर ढंग से और अपेक्षाकृत शान्त माहौल में विस्तार से सोच-विचार किया जाता है, मुक्त रूप से विचार व्यक्त किए जाते हैंऔर मामले पर गहराई से विचार किया जाता है। समितियाँ संसदीय प्रणाली में अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। ये संसद, कार्यपालिका और आम जनता के बीच की मजबूत कड़ी का भी कार्य करती हैं।

स्थायी समितियों में सबसे शक्तिशाली निस्संदेह सार्वजनिक मामलों की मंत्रीमण्डलीय समिति (सी0सी0पी0ए0) है। यह समिति सरकार में संकट प्रबन्धन एवं निर्णय निर्माण की सर्वोच्च संस्था है। समिति वरिष्ठ मंत्रियों का एक ऐसा समूह है, जो महामंत्रीमण्डल की तरह कार्य करता है। अधिकांश महत्वपूर्ण निर्णय इसी समिति द्वारा लिए जाते हैं तथा तत्पश्चात ही उसे मंत्रीमण्डल की स्वीकृति भी मिल जाती है। सार्वजनिक मामलों की मंत्रीमण्डलीय समिति प्रधानमंत्री द्वारा गठित की जाती है और सामान्यतया सप्ताह में इसकी एक बैठक भी बुलाई जाती है। आवश्यकता पड़ने पर इसकी बैठक कभी भी बुलाई जा सकती है। इसके अतिरिक्त नियुक्ति समिति, संसदीय मामलों की समिति, आर्थिक मामलों की समिति आदि समितियां मंत्रीमण्डल का सहयोग कर शीघ्र निर्णय करने में सहायक होती हैं। इनके साथ-साथ एक महाशक्तिशाली समूह, जिसे संकट प्रबन्धन टीम कहा जाता है, नीति-निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। इसके सदस्य वरिष्ठ मंत्री तथा प्रधानमंत्री के व्यक्तिगत विश्वास-पात्र बाहरी लोग भी होते हैं।

4.3.4 प्रधानमंत्री कार्यालय की भूमिका

भारत सरकार में उच्च स्तर पर नीति-निर्माण प्रक्रिया में प्रधानमंत्री कार्यालय की भूमिका अति महत्वपूर्ण है। देश की राजनीतिक व्यवस्था के शीर्षस्थ पद,प्रधानमंत्री से निकटता के कारण इस कार्यालय की भूमिका में निरन्तर बदलाव होता रहा है। सरकारी कार्य विभाजन नियमावली- सन्1961 के अनुसार,प्रधानमंत्री कार्यालय को भारत सरकार के एक विभाग के रूप में दर्जा प्राप्त है। इसके अधीन कोई सम्बद्ध या अधीनस्थ कार्यालय नहीं है। महत्वपूर्ण होने के बाबजूद यह संविधान की परिधि के बाहर की संस्था है।

प्रधानमंत्री कार्यालय का अस्तित्व सितम्बर 1946 में गवर्नर-जेनरल (कार्मिक) के सचिव के रूप में आया। जून 1977 तक इस कार्यालय को प्रधानमंत्री सचिवालय कहा जाता था।

प्रधानमंत्री कार्यालय का राजनीतिक प्रमुख प्रधानमंत्री एवं प्रशासनिक प्रमुख प्रधान सचिव होता है। प्रधानमंत्री कार्यालय का प्रधान सचिव नीति-निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। वह समस्त महत्वपूर्ण विषयों को

अनुमोदनार्थ एवं आदेशार्थ प्रधानमंत्री के सम्मुख रखता है। वह समस्त क्रियाकलापों में समन्वय एवं महत्वपूर्ण मामलों में प्रधानमंत्री को सलाह भी प्रदान करता है।

प्रधानमंत्री कार्यालय के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं-

1. सरकार के प्रमुख के रूप में प्रधानमंत्री को समस्त कार्यों में सहायता प्रदान करना।
2. योजना आयोग के अध्यक्ष तथा राष्ट्रीय विकास परिषद् की जिम्मेदारियों के मद्देनजर प्रधानमंत्री की सहायता करना।
3. प्रधानमंत्री के जनसम्पर्क सम्बन्धी समस्त कार्यों में मदद करना।
4. राष्ट्रपति, राज्यपालों एवं विदेशी राजनयिकों से सम्पर्क बनाये रखना।
5. प्रधानमंत्री के लिए 'विचार केन्द्र' के रूप में कार्य करना।
6. उन सभी सन्दर्भों का निपटारा करना जो सरकारी कार्य विभाजन से सम्बन्धित नियमावली के अन्तर्गत प्रधानमंत्री के सम्मुख लाये गए हों।

सामान्यतः प्रधानमंत्री कार्यालय कार्य विभाजन के सन्दर्भ में दो बातों का ध्यान रखता है- प्रथम,यह कार्यालय उन सभी विषयों का निपटारा करता है,जो विषय किसी मंत्रालय या विभाग को नहीं सौंपे गए हैं तथा द्वितीय, इस कार्यालय का केन्द्रीय मंत्रीमण्डल के अध्यक्ष के रूप में प्रधानमंत्री के उत्तरदायित्वों से कोई सम्बन्ध नहीं है। मंत्रीमण्डल से जुड़े समस्त मामलों का निपटारा मंत्रीमण्डलीय सचिवालय करता है,जो प्रधानमंत्री के निर्देशन में कार्य करता है।

4.3.5 मंत्रीमण्डलीय सचिवालय एवं प्रधानमंत्री कार्यालय की भूमिका

भारत में मंत्रीमण्डलीयसचिवालय अक्टूबर 1945 तथा प्रधानमंत्री कार्यालय की सितम्बर 1946 में स्थापित हुए अर्थात् स्वतंत्रता से पूर्व ही ये संस्थाऐं अस्तित्व में आयी। भले ही उद्देश्य अलग-अलग थे,लेकिन स्वतंत्रता के बाद के वर्षों में इनके कार्यों में विभेद करना आसान नहीं था। "भारत सरकार के अन्तर्गत नीति-निर्माण सम्बन्धी सभी संगठनों में सचिवालय एक असाधारण उच्च मंच पर खड़ा है।"चूँकि यह भारत सरकार की शक्ति का केन्द्र-बिन्दु है, नि:सन्देह इसे नीति-निर्माण संगठन के रूप में ही तैयार किया गया। संरचनात्मक रूप से इसे कार्यान्वयन से भिन्न समझा गया है, किन्तु कर्मियों की भर्ती के माध्यम से कार्यान्वयन से सम्बन्ध रखने वाले अभिकरणों से जोड़ा गया है। सचिवालय में उच्च एवं मध्यम स्तर के पदों पर अखिल भारतीय सेवाओं एवं केन्द्रीय सेवाओं से अधिकारी पदावधि व्यवस्था के अन्तर्गत प्रतिनियुक्त होते हैं। इसकी पृष्ठभूमि में यह धारणा है कि जो नीति-सम्बन्धी विषयों पर मंत्रियों को परामर्श देने या नीति-निर्माण कार्य में लगे हैं, उन्हें भारत जैसे विभिन्नता वाले देश में उन सभी व्यवहारिक कठिनाईयों और समस्याओं का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त होना चाहिए,जिनका सामना सामान्यतः लोक सेवकों को क्षेत्र में कार्य करते हुए करना पड़ता है। इसी प्रकार, अपने कार्यकाल में सचिवालय में कार्य करने के अनुभव के बाद अधिकारियों को सीधे उन लक्ष्यों से परिचय हो जाता है,जो उन कार्यक्रमों एवं नीतियों के आधारभूत होते हैं।

भारतीय शासन व्यवस्था में मंत्रीमण्डलीय सचिवालय एवं प्रधानमंत्री सचिवालय जुड़वाँ राजनीतिक कार्यालय के रूप कार्य करते हैं। ये प्रधानमंत्री के नेतृत्व, निर्देशन, निरीक्षण एवं नियन्त्रण में कार्य करते हैं। प्रधानमंत्री कार्यालय की भूमिका प्रधानमंत्री के राजनीतिक कद एवं अनुभव के अनुसार बदलती रही है। हाँ यह पंडित नेहरु के कार्यकाल में सीमित भूमिका में था, वहीं लाल बहादुर शास्त्री के कार्यकाल से इसकी भूमिका में भारी बदलाव दृष्टिगोचर हुआ। श्रीमती गाँधी के कार्यकाल में यह काफी शक्तिशाली बनकर उभरा। अनन्तर प्रधानमंत्रियों ने इसे

अपने अनुरूप ढालने का प्रयास किया। वर्तमान प्रधानमंत्री के कार्यकाल में भी यह काफी सशक्त भूमिका में है। समानान्तर सरकार के रूप में यह कार्यालय कार्य करता प्रतीत होता है। इस प्रकार प्रधानमंत्री कार्यालय आधिकारिक स्तर पर शक्ति के प्रतिद्वन्दी केन्द्र के रूप में उभरा है, जिससे मंत्रीमण्डलीय सचिवालय एवं मंत्रीमण्डलीय सचिव की वैध भूमिका, महत्ता, प्राधिकार एवं पद स्थिति में निरन्तर ह्रास हुआ है। प्रधानमंत्री से निकटता के कारण इसने मंत्रीमण्डलीय सचिवालय को न्यून कर दिया है। आलोचकों ने इसे भिन्न-भिन्न संज्ञाओं से सम्बोधित किया है। यथा सुपर कैबिनेट, सुपर मिनिस्ट्री, माइक्रो कैबिनेट, द वर्चुअल गवर्नमेंट आदि-आदि।

4.4 नीतिगत मुद्दों का चयन

नीति का सामान्यतः अर्थ यह निर्णय करना है कि क्या किया जाए? कब किया जाए? और कहाँ किया जाए? डिमॉक के शब्दों में, नीतियाँ व्यवहार के वे नियम हैं,जिन्हें सचेत रूप से मान्यता प्राप्त है और जो प्रशासनिक निर्णयों का मार्गदर्शन करते हैं। सामान्य तौर पर नीति-निर्माण को निर्णय करने की प्रक्रिया से जोड़ा जाता है। यद्यपि इन दोनों में निकट का सम्बन्ध है,तथापि ये दोनों एक नहीं हैं। प्रत्येक नीति-निर्माण में निर्णय करने की प्रक्रिया होती है, परन्तु प्रत्येक निर्णय नीति नहीं होता।

ऑस्टिन रैन्नी के अनुसार लोक नीति के पाँच तत्व हैं। पहला- एक विशेष लक्ष्य या लक्ष्य- समूह, दूसरा-घटनाओं का वांछित मार्ग, तीसरा- कार्य करने की शैली का चयन, चौथा- संकल्प या उद्देश्य की घोषणा तथा पाँचवां- उद्देश्यों का क्रियान्वयन।

सामान्यतः नीति-निर्माण के पाँच चरण होते हैं। प्रथम चरण में समस्या की पहचान की जाती है,जो नीति का विषय बनना चाहिए। दूसरा चरण यह है की समस्या से निपटने का विकल्प ढूँढा जाए। तीसरा चरण ऐसे विकल्प चुने जाने पर बल देता है,जो निश्चित और अधिक उपयुक्त हो तथा उसे प्रस्ताव, आदेश, नियम अथवा विधि का रूप दिया जा सके। चतुर्थ चरण उसका क्रियान्वयन है तथा अंतिम और पाँचवा चरण नीति का मूल्यांकन करना होता है, ताकि उसकी सफलता या असफलता या पूरा प्रभाव देखा जा सके।

माइकल हौलेट एवं एम0 सुरेश इसे नीति-चक्र के पाँच चरण कहते हैं। उनके अनुसार कार्य सूची निश्चित करना उस प्रक्रिया को कहते हैं, जिसके द्वारा समस्याऐं सरकार के समक्ष या संज्ञान में आती हैं। नीति-निर्माण उस प्रक्रिया का नाम है,जिसके द्वारा सरकार के अन्दर नीति के विकल्पों को तैयार किया जाता है। निर्णय करना उस प्रक्रिया का नाम है,जिसके द्वारा सरकारें एक विशेष मार्ग अपनाती या नहीं अपनाती हैं तथा नीति कार्यान्वयन वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा सरकारें नीतियों को कार्यरूप देती हैं। नीति मूल्यांकन के द्वारा राज्य एवं सामाजिक कार्यकर्ता नीतियों के परिणाम पर निगाह रखते हैं,जिसके परिणामस्वरूप हो सकता है कि नीति की समस्याओं तथा उपचारों को पुनः संकल्पित करना पड़े।

नीति का निर्माण शून्यता में नहीं होता। जिन पर नीति-निर्माण का उत्तरदायित्व होता है, उन्हें विभिन्न तत्वों द्वारा प्रभावित करने का प्रयास किया जाता है। एक नीति सदा ही व्यक्तियों, अनेक समूहों, शासकीय एवं गैर-शासकीय अधिकारीयों के सहकारी प्रयासों का परिणाम होती है।

नीतिगत मुद्दे समाज की मांगों पर आधारित होते हैं,जो संगठित रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं। हालांकि कभी-कभी आम लोग भी सरकार का ध्यान आकर्षित करने में सफल हो जाते हैं। वर्तमान लोककल्याणकारी राज्य की अवधारणा के उदय के साथ सरकार के कार्यों में अप्रत्याशित वृद्धि हुई है। जिसके फलस्वरूप सरकारों को ना केवल सामाजिक-आर्थिक तनाव दूर करने की जिम्मेदारी है, अपितु शान्ति एवं सुरक्षा के लिए व्यक्तिगत एवं सामूहिक मांगों का तुष्टिकरण करना भी है। नीतिगत मुद्दे व्यक्ति या समूहों द्वारा उठाये जा सकते हैं। सामान्यतः

व्यक्तिगत मुद्दों पर सरकार ध्यान नहीं देती है, लेकिन व्यक्ति के राजनीतिक एवं आर्थिक कद को देखते हुए सरकार अक्सर बाध्य भी हो जाती है। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि संगठित रूप से प्रस्तुत मुद्दें सरकार का ध्यान आकर्षित करती हैं।

इसके अतिरिक्त नीतिगत मुद्दे राजनीतिक दल के सदस्यों द्वारा भी प्रस्तुत किये जाते हैं। सत्ता पक्ष या विपक्षदोनों इस सन्दर्भ में समान रूप से प्रभावी हो सकते हैं। साथ ही दबाब समूह भी इसमे सक्रिय भूमिका निभाते हैं। नौकरशाही प्रशासनिक आवश्यकताओं के आधार पर नीतिगत मुद्दों की ओर ध्यान दिला सकती है। जनमत भी विविध माध्यमों यथा समाचार-पत्र, रेडियो, टेलीवीजन आदि के माध्यम से इसमे सहायक होता हैं।

4.4.1 नीतिगत मुद्दें एवं जनमत

नीति निर्धारण में जनता की राय जानने में और नीति निर्धारकों तक जनता की बात पहुँचाने में जनमत एक सेतु की तरह काम करता है। जनमत वह संगठित शक्ति है,जो समाज के स्वीकृत परम्परागत आदर्शों और अनुभूतियों का प्रतिरूप होती है एवं उस समाज की तात्कालिक भावनाओं का भी प्रतिनिधित्व करती है। जनमत गतिशील और स्थैतिक दो प्रकार का होता है। गतिशील जनमत परम्परागत रूढ़ियों तथा आदर्श और व्यवहार पर आधारित होता है, स्थैतिक जनमत स्थायी भावना उद्-गारों एवं उनके विज्ञापन से सम्बन्धित होता है। इसलिए प्रतिदिन निरन्तर नया रूप धारण करता रहता है, लोकतंत्र में वोट की ताकत महत्वपूर्ण मानी जाती है और जब इस ताकत का सही दिशा में इस्तेमाल होता है तो इससे एक ऐसा जनमत तैयार होता है, जिससे नये राजनीतिक हालात अक्सर देखने को मिलते हैं। यह भूमिका किसी एक देश अथवा क्षेत्र तक सीमित नहीं है, विश्व के तमाम प्रगतिशील विचारों वाले देशों में जनमत की महती भूमिका से कोई इन्कार नहीं कर सकता। मीडिया में और विशेष तौर पर प्रिन्ट मीडिया में जनमत बनाने की अद्-भुत शक्ति होती है। आज मीडिया अखबारों तक सीमित नहीं है, परन्तु इलेक्ट्रानिक मीडिया और वेब मीडिया की तुलना में प्रिन्ट मीडिया की पहुँच और विश्वसनीयता कहीं अधिक है। प्रिन्ट मीडिया का महत्व इस बात से और बढ़ जाता है कि आप छपी हुई बातों को सन्दर्भ के रूप में इस्तेमाल कर सकते हैं और उनका अध्ययन भी कर सकते हैं। एक सफल लोकतंत्र वही होता है,जहाँ जनता जागरुक होती है।

सरकारी क्रियाकलापों को प्रभावित करने में जनमत की भूमिका अति महत्वपूर्ण है। किसी समस्या के नीतिगत मुद्दे के रूप में परिवर्तन जनमत की भूमिका पर निर्भर करता है। निश्चित रूप से नीति निर्माताओं के लिए जनमत एक प्रभावी माध्यम के रूप कार्य करता है। हालाँकि प्रभाव की गहराई अलग-अलग हो सकती है।

4.5 नीतिगत कार्यवृत्त की पहचान

नीति वह माध्यम या साधन है,जिसके सहारे लक्ष्यों को प्राप्त किया जाता है। किसी भी राष्ट्र के समक्ष उपस्थित समस्याओं से निबटने के लिए समस्याग्रस्त क्षेत्रों से सम्बद्ध नीतियाँ बनानी पड़ती हैं। नीतियों के अभाव में ना तो वर्तमान समस्याओं से निबटा जा सकता है और ना ही भावी संकट को चिन्हित कर उसका समाधान किया जा सकता है। नीतियों का अभाव अन्ततः अराजकता को ही आमंत्रित करता है ।

नीति-निर्माण की प्रक्रिया किसी संगठन में उच्चतम, मध्य या निम्न, किसी भी स्तर से आरम्भ की जा सकती है। लेकिन शुरुआत जहाँ से भी हो पूरा संगठन ही उसमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से शामिल हो जाता है। यह आवश्यक नहीं है कि नीति-निर्माण की प्रक्रिया हमेशा ऊपर से नीचे की ओर हो। यह नीचे से ऊपर की ओर भी हो सकती है।

कार्यवृत्त या एजेन्डा विचार-विमर्श एवं निर्णय तक पहुँचने की एक प्रक्रिया है। यह महत्वपूर्ण है कि कितने विचारणीय बिन्दु कार्यवृत्त का रूप ले पाते हैं? लोक कल्याणकारी राज्य में व्यक्ति की उम्मीदें राज्य से अत्यधिक होती है। जाहिर है कि राज्य सभी मुद्दों एवं मांगों की ओर ध्यान नहीं दे सकता है। स्पष्ट रूप से मांग या समस्या ही कार्यवृत्त का आधार बनते हैं। अभिजन या समाज के सम्भ्रान्त लोग अक्सर कार्यवृत्त में अपनी समस्याओं को शामिल कराने में सफल हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त सरकार गम्भीर प्रकृति के मुद्दों को शामिल करती है। राजनीतिक दल एवं विपक्ष के सशक्त राजनीतिज्ञ भी अपने-अपने मुद्दों को कार्यवृत्त में शामिल करा पाते हैं।

4.6 नीतिगत प्रस्ताव की पहचान: कुछ तकनीक

मांग या समस्या जो अन्ततः कार्यवृत्त में शामिल हो पाते हैं, नीतिगत प्रस्ताव कहे जाते हैं। हालाँकि सभी प्रस्ताव नीति का रूप नहीं ले पाते हैं,क्योंकि अंतिम निर्णय राजनीतिक कार्यपालिका ही करती है। राजनीतिक कार्यपालिका कभी-कभी दबाब के कारण इन्हें कार्यवृत्त में शामिल तो कर लेती है, परन्तु विविध कारणवश इन्हें प्रस्ताव का रूप नहीं दे पाती। संगठन एवं संस्था में भी अलग-अलग विचार प्रायः टकराव की स्थिति पैदा कर देते हैं। इन परिस्थितियों में प्रायः अलग-अलग शैलियों का प्रयोग नीति निर्माता करते हैं। ये नीतिगत प्रस्तावों के नीतियों में परिवर्तन की तकनीक भी कहे जाते हैं। ये हैं- सौदेबाजी, प्रतिस्पर्धा, नियंत्रण, संघर्ष और सहयोग। नीति-निर्माण में प्रायः सभी को तुष्ट कर पाना राजनीतिक कार्यपालिका के लिए असम्भव होता है। अतः वह एक सर्वमान्य निर्णय हेतु सौदेबाजी का प्रयोग करता है। राजनीतिक निर्णय एवं प्रशासनिक नीति-निर्माण में प्रायः यह तकनीक प्रयुक्त होती है। राजनीति एवं प्रशासन में परस्पर लेन-देन नीति-निर्माण में साधक सिद्ध होती है। प्रतिस्पर्धा भी नीति-निर्माण का एक महत्वपूर्ण चरण है। परस्पर विरोधी विचारधाराओं एवं प्रतिमान बेहतर नीति-निर्माण में सहायक होते हैं। साथ ही राजनीतिक कार्यपालिका अपने नेतृत्व, करिश्मे एवं दिशा-निर्देशों से नियंत्रण कर नीति को एक रूप देती है। संसदीय प्रजातंत्र में प्रधानमंत्री का व्यक्तित्व एवं राजनीतिक दल का बहुमत नियंत्रण का माध्यम है। यही स्थिति राष्ट्रपति की अध्यक्षात्मक व्यवस्था में होती है। इनके अतिरिक्त संघर्ष एवं सहयोग शैलियों का भी प्रयोग नीति निर्माता करते हैं। सामान्यतः संघर्ष एवं सहयोग, दोनों बेहतर नीतियों को जन्म देती है। राजनीतिक उठा-पटक में ये दोनों आवश्यक हो जाते हैं।

इन तकनीकों में किसी एक का प्रयोग नीति के निर्माण के लिए पूर्ण नहीं है। सामान्यतया राजनीतिक नेतृत्व एक साथ ही दो या दो से अधिक तकनीकों का प्रयोग देश, काल एवं परिस्थिति के अनुसार करता है। प्रजातान्त्रिक व्यवस्था में जनता का सहयोग एवं समर्थन नीतियों की स्वीकार्यता को बढाता है।

अभ्यास प्रश्न-

1. सर्वप्रथम किस विचारक ने संसदीय प्रणाली को कैबिनेट या मंत्रीमण्डलीय प्रणाली की संज्ञा दी थी?
2. संसदीय शासन प्रणाली में मंत्रीमण्डल की धुरी कौन होता है?
3. कौन संघ की कार्यपालिका के संवैधानिक प्रमुख होते हैं?
4. सिविल सेवा बोर्ड का पदेन अध्यक्ष कौन होता है?
5. "मंत्रीमण्डलीय गुम्बद की आधारशिला" किसे कहा गया है?

4.7 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप यह जान चुके होंगे कि नीति-निर्माण को लोक प्रशासन का केन्द्रीय तत्व माना गया है। नीति-निर्माण प्रक्रिया में सरकार के तीनो अंग- कार्यपालिका, व्यवस्थापिका एवं न्यायपालिका किसी ना किसी

रूप में सम्बद्ध होते हैं। किसी देश की राजनीतिक कार्यपालिका का स्वरुप एवं संगठन वहाँ की संवैधानिक व्यवस्था द्वारा निर्धारित की जाती है। विश्व में राजनीतिक कार्यपालिका के विविध स्वरुप हैं। भारत में संसदीय शासन व्यवस्था होने के कारण लोक नीति-निर्माण की केन्द्रीय धुरी मंत्रीमण्डल है, जिसका प्रधान प्रधानमंत्री होता है। वस्तुतः प्रधानमंत्री केन्द्रीय कार्यपालिका का वास्तविक प्रधान होता है। समस्त प्रशासकीय कार्यों की जिम्मेदारी मंत्रीमण्डल पर होती है, जिसके सहायतार्थ मंत्रीमण्डलीय सचिव एवं मंत्रीमण्डलीय सचिवालय की स्थापना की गयी है। इसके साथ-साथ ही सामान्यतः मंत्रीमण्डल के पास अत्यधिक कार्य होता है और उसके पास उन्हें निपटाने के लिए सीमित समय होता है। इस प्रकार प्रत्येक मामले पर विस्तृत और सुव्यवस्थित ढंग से जाँच कर पाना और उन पर विचार किया जाना असम्भव हो जाता है। इसलिए मंत्रीमण्डल के कतिपय कार्यों को समितियों को सौंपा जाना एक सामान्य परिपाटी बन गई है। इसके साथ ही भारतीय शासन व्यवस्था में मंत्रीमण्डलीय सचिवालय एवं प्रधानमंत्री सचिवालय जुड़वाँ राजनीतिक कार्यालय के रूप कार्य करते हैं। ये प्रधानमंत्री के नेतृत्व, निर्देशन, निरीक्षण एवं नियंत्रण में कार्य करते हैं। प्रधानमंत्री कार्यालय आधिकारिक स्तर पर शक्ति के प्रतिद्वन्दी केन्द्र के रूप में उभरा है,जिससे मंत्रीमण्डलीय सचिवालय एवं मंत्रीमण्डलीय सचिव की वैध भूमिका, महत्ता, प्राधिकार एवं पद स्थति में निरतर ह्रास हुआ है। आपको इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात दोनों की भूमिका का ज्ञान हुआ होगा। इसके साथ ही नीतिगत मुद्दे, नीतिगत कार्यवृत्त तथा प्रस्ताव के सम्बन्ध में भी जानकारी मिली होगी। नीतिगत मुद्दे समाज की मांगों पर आधारित होते हैं,जो संगठित रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं। नीति निर्धारण में जनता की राय जानने में और नीति निर्धारकों तक जनता की बात पहुँचाने में जनमत एक सेतु की तरह काम करता है। राज्य सभी मुद्दों एवं मांगों की ओर ध्यान नहीं दे सकता है। स्पष्ट रूप से मांग या समस्या ही कार्यवृत्त का आधार बनते हैं। सभी प्रस्ताव नीति का रूप नहीं ले पाते हैं,क्योंकि अंतिम निर्णय राजनीतिक कार्यपालिका ही करती है। राजनीतिक कार्यपालिका नीति-निर्माण में नौकरशाही की राय से भी प्रभावित होती है।

4.8 शब्दावली

मंत्रीमण्डल- मंत्रीपरिषद का लघु रूप जो लोक नीति-निर्माण की केन्द्रीय धुरी होती है।

किचेन कैबिनेट- राजनीतिक प्रमुख के गैर-सरकारी सलाहकारों का वह अनौपचारिक समूह, जो सरकारी मंत्रीमण्डल से अधिक प्रभावशाली होता है।

मंत्रिपरिषद- नीति-निर्माण हेतु सर्वोच्च संस्था जिसका प्रधान प्रधानमंत्री /मुख्यमंत्री होता है।

विभाग- नीतियों एवं कार्यक्रमों के क्रियान्वयन हेतु मंत्रालय का एक भाग।

मानदण्ड- नियम या आधार।

4.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. आइवर जेंनिंग्स,**2.** प्रधानमंत्री ,**3.** राष्ट्रपति,**4.** मंत्रीमण्डलीय सचिव,**5.** प्रधानमंत्री

4.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. सुरेन्द्र कटारिया, 2009, प्रशासन एवं लोक नीति , मयूर पेपरबैक्स, नई दिल्ली।
2. श्रीराम माहेश्वरी,2009, भारतीय प्रशासन, ओरिऐंट ब्लैकस्वान, नई दिल्ली।
3. चार्ल्स ई0 लिंडब्लौम, 1968, द पौलिसी मेकिंग प्रोसेस, इंगलवुड क्लिप्स, एन0जे0 प्रेन्टिस हॉल, आई0एन0सी0।

4. पॉल एच0 एपेल्बी, 1949, पालिसी ऐंड एडमिनिस्ट्रेशन, अलबामा यूनिवर्सिटी प्रेस।

4.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. आर0 बी0 जैन, 2009, भारतीय प्रशासन में समकालीन मुद्दे, विवेक प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. सुषमा यादव एवं राम अवतार शर्मा, 1997, भारतीय राजनीति ज्वलंत प्रश्न, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय,दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
3. मनोज सिन्हा , 2010, प्रशासन एवं लोक नीति, ओरिएंट ब्लैकस्वान, नई दिल्ली।
4. एम0 लक्ष्मीकांत, 2014, भारतीय शासन, टाटा मैकग्राव हिल, नई दिल्ली।

4.12 निबन्धात्मक प्रश्न

1. राजनीतिक कार्यपालिका के कार्यों का वर्णन कीजिए।
2. नीति-निर्माण में मंत्रीमंडल एवं मंत्रीमण्डलीय सचिवालय की भूमिका की विवेचना कीजिए।
3. नीति-निर्माण में प्रधानमंत्री कार्यालय की भूमिका का मूल्यांकन कीजिए।
4. नीतिगत प्रस्ताव की पहचान के तकनीकों का वर्णन कीजिए।
5. नीतिगत कार्यवृत्त क्या है? प्रकाश डालिए।

इकाई-5 नीति-निर्माण में अधिकारी-तन्त्र(नौकरशाही) की भूमिका

इकाई की संरचना

5.0 प्रस्तावना
5.1 उद्देश्य
5.2 अधिकारी-तन्त्र का अर्थ
5.3 अधिकारी-तन्त्र का बदलता स्वरुप
5.4 नीति-निर्माण में अधिकारी-तन्त्र की भूमिका
5.5 प्रदत्त विधायन एवं अधिकारी तन्त्र
5.6 अधिकारी-तन्त्र की बढ़ती उपयोगिता
5.7 सारांश
5.8 शब्दावली
5.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
5.10सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
5.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
5.12निबन्धात्मक प्रश्न

5.0 प्रस्तावना

राजनीतिक समाज के शासन हेतु औपचारिक उत्तरदायित्व निभाने वाली संस्थागत व्यवस्था राजनीतिक कार्यपालिका होती है। पिछली इकाई के अध्ययन के पश्चात आपको इस सम्बन्ध में विस्तार से ज्ञान प्राप्त हुआ होगा। प्रशासन अनिवार्यतः कार्यपालिका से जुड़ा होता है। इसलिए कार्यपालिका नीति-निर्माण से सम्बन्धित जो भी काम करती है,उसका आधार अधिकारी-तंत्र ही होता है। पहले के पुलिस राज्य के स्थान पर कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के उदय, इसके परिणामस्वरूप सरकार की गतिविधियों और दायित्वों में अप्रत्याशित वृद्धि तथा सरकार के कार्यों की तकनीकी प्रकृति ने अधिकारी-तन्त्र अर्थात् नौकरशाही को प्रशासन का भी अपरिहार्य तत्व बना दिया है। प्रस्तुत इकाई में नीति-निर्माण में अधिकारी-तन्त्र की भूमिका का विश्लेषण किया गया है। इसके अतिरिक्त इस इकाई में आप अधिकारी-तन्त्र के अर्थ, इसकी विशेषताऐं, बदलती भूमिका एवं महत्व के बारे में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे। साथ ही इस इकाई में प्रदत्त विधायन में अधिकारी-तन्त्र की भूमिका के बारे में भी चर्चा होगी।

5.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- अधिकारी-तन्त्र अर्थात् नौकरशाही की अवधारणा को जान सकेंगे।
- आप नौकरशाही के अर्थ एवं बदलते स्वरुप को भी समझ पाऐंगे।
- नीति-निर्माण में अधिकारी-तन्त्र अर्थात् नौकरशाही की भूमिका के बारे में आपको ज्ञान प्राप्त होगा।
- प्रदत्त विधायन में नौकरशाही की भूमिका के सम्बन्ध में भी आप जानकारी जुटाने में सक्षम होंगे तथा
- अधिकारी-तन्त्र अर्थात नौकरशाही की बदलती भूमिका का भी ज्ञान होगा।

5.2 अधिकारी-तन्त्र का अर्थ

नीति-निर्माण हेतु राजनीतिक कार्यपालिका बहुत हद तक अधिकारी-तन्त्रअर्थात नौकरशाही पर ही निर्भर होती है। वास्तव में देखा जाए तो मंत्री या मंत्रीमण्डल जिस नीति को प्रस्तावित करता है,उसकी रुपरेखा तो नौकरशाही ही तैयार करती है। सूचना, परामर्श तथा विश्लेषण के माध्यम से यह राजनीतिक कार्यपालिका के साथ नीति-निर्माण में सहायक सिद्ध हुआ है। किसी बड़ी संस्था या प्रशासनिक-तंत्र के परिचालन के लिये निर्धारित की गयी संरचनाओं एवं नियमों को समग्र रूप से अधिकारी-तन्त्र या ब्यूरोक्रैसी कहते हैं। तदर्थशाही के विपरीत इस तंत्र में सभी प्रक्रियाओं के लिये मानक विधियाँ निर्धारित की गयी होती हैं और उसी के अनुसार कार्यों का निष्पादन अपेक्षित होता है। शक्ति का औपचारिक रूप से विभाजन एवं पदसोपान इसके अन्य लक्षण है।

नौकरशाही,सामाजिक विज्ञान की एक प्रमुख संकल्पना है।लोक प्रशासन के साहित्य में 'नौकरशाही' शब्द जितना सुपरिचितहै,उतना अप्रिय भी है।'नौकरशाही' शब्द अंग्रेजीभाषा के शब्द 'ब्यूरोक्रेसी'(Bureaucracy) का हिन्दी रूपान्तरण है। 'ब्यूरोक्रेसी' शब्द की उत्पत्ति फ्रांसीसी भाषा के 'ब्यूरो' नामक शब्द से हुई है, जिसका अर्थ है, डेस्क या लिखने वाली मेज। फ्रान्स में इस शब्द का प्रयोग ड्राअर(मेज में सामान रखने का बन्द स्थान) वाली मेज अथवा लिखने की डेस्क के लिए हुआ करता था। इस डेस्क पर ढके कपड़े को 'ब्यूरल' कहा जाता था तथा इसी के आधार पर निर्मित 'ब्यूरो' शब्द सरकारी कार्यों का परिचायक माना जाने लगा। आगे चलकर इसका प्रयोग विशेष प्रकार की सरकार को चलाने के लिए हुआ।

'नौकरशाही' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग सन्1745 मे फ्रान्सीसी अर्थशास्त्री 'विन्सेन्ट दि गुर्नी' ने किया। ऐतिहासिक तौर पर नौकरशाही संस्था के रुप में 186 ई० पूर्व से चीन में विद्यमान थी,जिसमें कार्मिकों का चयन प्रतियोगी परीक्षाओं द्वारा होता था। फिर भी जब नौकरशाही पर बात होती है,तो सबसे महत्वपूर्ण नाम मैक्स वेबर का ही आता है। नौकरशाही का व्यापक तथा सुस्पष्ट सिद्धान्त विकसित करने का श्रेय वेबर को दिया जाता है। वेबर ने कभी नौकरशाही को परिभाषित तो नहीं किया, सिर्फ इसकी विशेषताओं का वर्णन किया है। वे पहले चिन्तक थे,जिन्होंने नौकरशाही का विश्लेषण व्यवस्थित ढंग से किया। मैक्स वेबर के विचारों ने आने वाली कई पीढ़ियों के विचारकों को प्रभावित किया है। वेबर के विचार आधुनिक नौकरशाही के रूह को प्रतिबिम्बित करते हैं। नौकरशाही के विश्लेषण हेतु सैद्धान्तिकढ़ाँचा और आधार मैक्स वेबर ने ही प्रदान किया।

विभिन्न विद्वानों ने नौकरशाही की अलग-अलग परिभाषाऐं दी हैं।इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के अनुसार, यह शब्द "ब्यूरो या विभागों में प्रशासकीय शक्ति के केन्द्रित होने तथा राज्य के क्षेत्राधिकार से बाहर के विषयों में भी अधिकारियों के अनुचित हस्तक्षेप को व्यक्त करता है।"

रॉबर्ट सी0 स्टोन के शब्दों में "इस पद का शाब्दिक अर्थ कार्यालय या अधिकारियों का शासन है।"

प्रो0 एपलबी के अनुसार "नौकरशाही तकनीकी दृष्टि से कुशल कर्मचारियों का एक व्यवसायिक वर्ग है,जिसका संगठन पदसोपान के अनुसार किया जाता है और जो निष्पक्ष होकर राज्य का कार्य करते हैं।"

ई0 एन0 ग्लैडेन के शब्दों में "नौकरशाही एक ऐसी विनियमित प्रणाली है,जो अन्तःसम्बन्धीय पदों की श्रृंखला के रूप में संगठित होती है।"

कार्ल फ्रेडरिक ने कहा है कि "नौकरशाही उन लोगों के पदसोपान, कार्यों के विशेषीकरण तथा उच्च स्तरीय क्षमता से युक्त संगठन है,जिन्हें उन पदों पर कार्य करने के लिए प्रशिक्षित किया गया है।"

इस प्रकार विद्वानों के विभिन्न मतों के आधार पर सहज ही यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि नौकरशाही शब्द पर्याप्त अस्पष्ट और अनेक अर्थों को इंगित करता है। व्यापक दृष्टिकोण के अनुसार नौकरशाही से एक ऐसी व्यवस्था

का बोध होता है,जहाँ कर्मचारियों को अनुभाग, प्रभाग, ब्यूरो एवं विभाग आदि श्रेणी श्रृंखला में विभक्त कर दिया गया है,इसमें प्रशासकीय सत्ता का लक्ष्य व्यापक जनहित में होता है। किन्तु संकुचित दृष्टिकोण में जनहित गौण स्थान प्राप्त कर लेता है तथा नौकरशाही औपचारिकता एकरूपता तथा नियमबद्धता का पर्याय बन जाती है।

कार्ल मार्क्स के अनुसार 'नौकरशाही' शब्द का प्रयोग मुख्यतः चार रूपों में किया जाता है-

1. नौकरशाही एक विशेष प्रकार का संगठन है। विशेषतः यह लोक प्रशासन के कार्य करने की एक संरचना है।
2. नौकरशाही संगठन की एक ऐसी बीमारी है,जो अच्छे प्रबन्ध में अवरोध पैदा करती है।
3. नौकरशाही एक 'बड़ी सरकार' है। यह अच्छे-बुरे कार्यो के लिए सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था से जुड़ा एक विशाल संस्थान है।
4. नौकरशाही बुराई पैदा करने वाला अभिशाप है,जो स्वतंत्रता के लिए हानिकारक है।

प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में नौकरशाही का महत्व निर्विवाद है। यह आधुनिक राज्य का अपरिहार्य तत्व है। इसकी विशेषताओं के सम्बन्ध में विचारकों के मत अलग-अलग है। कार्ल मार्क्स ने जहाँ इसकी छह विशेषताओं का जिक्र किया है, वहीं फेरेल हिडी ने तीनविशेषताऐंबताई हैं। मोटे तौर पर नौकरशाही के निम्नलिखित प्रमुख विशेषताऐं निम्न हैं-

1. कर्मचारियों एवं अधिकारियों के मध्य परिभाषित प्रशासनिक कार्य का विभाजन।
2. कर्मियों की भर्ती एवं उनके सेवा की सुव्यवस्थित एवं तर्कसंगत तंत्र।
3. अधिकारियों में पदानुक्रम, ताकि शक्ति एवं अधिकार का समुचित वितरण हो, तथा
4. संस्था के घटकों को आपस में जोड़ने के लिये औपचारिक एवं अनौपचारिक तंत्र की व्यवस्था, ताकि सूचना एवं सहयोग का सुचारु रूप से बहाव सुनिश्चित हो सके।

प्रशासकीय पदसोपान अधिकारी तंत्र की प्रमुख विशेषता है,जिसमें आदेश ऊपर से नीचे की ओर चलता है तथा उत्तरदायित्व नीचे से ऊपर की ओर चलता है। प्रत्येक अधीनस्थ कर्मचारी अपने उच्च पदस्थ अधिकारी के प्रति उत्तरदायी होता है। पूरा संगठन एक पिरामिड की भाँति कार्य करता है,जिससे एक उचित मार्ग प्रक्रिया का निर्माण भी सम्भव हो पाता है। निर्धारित कार्यक्षेत्र एवं विशेषज्ञता इसकी अन्य विशेषता है। अधिकारी-तंत्र में कार्य एवं उत्तरदायित्व का निर्धारण होता है,जिसे कठोरता के साथ पालन किया जाता है। इसके अतिरिक्त आधुनिक नौकरशाही में व्यक्ति एक ही कार्य करते-करते विशेषज्ञ हो जाता है तथा उसे संगठन की समस्याओं एवं हरेक पहलू का ज्ञान भी हो जाता है। अधिकारी-तंत्र में नियम एवं कानूनों को सर्वोच्च वरीयता दी जाती है तथा अधिलेखों के व्यवस्थित होने पर विशेष बल दिया जाता है।

5.3 अधिकारी-तन्त्र का बदलता स्वरुप

किसी भी देश की शासन व्यवस्था उसके राजनीतिक जीवन का अभिन्न अंग होती है। यह राज्य की नीतियों को लागू कर उसके लक्ष्यों को साकार बनाती है तथा उसे सार्थकता प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है।अधिकारी-तन्त्र सभी प्रशासनिक अभिकरणों को नेतृत्व प्रदान करती है तथा विविध इकाईयों के मध्य समन्वय भी स्थापित करती है। प्रशासनिक कार्यकुशलता एवं मितव्ययिता इस पर ही निर्भर करती है। संसदीय प्रणाली वाले देशों में नीति-निर्माण एवं प्रशासन एक-दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़े होते हैं। नीति-निर्माण एवं प्रशासन के मध्य एक अटूट रिश्ता हो जाता है। इस सन्दर्भ में पीटर ओडेगार्ड का कथन बिल्कुल सही है कि 'नीति और प्रशासन राजनीति के जुड़वाँ बच्चे हैं,जो एक-दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते हैं।'

प्रायः नौकरशाही शब्द का प्रयोग व्यंग्यात्मक अर्थों में किया जाता है और अधिकारी तंत्र या लोकसेवकों को नौकरशाह कह कर सम्बोधित किया जाता है। नौकरशाही पर स्वार्थसिद्धि के लिए अपनी सत्ता के दुरुपयोग का आरोप लगाया जाता है। विद्वान जॉन वीग के शब्दों में,विकृति एवं परिहास के कारण नौकरशाही शब्द का अर्थ काम में घपला, मनमानी, अति व्यय कार्यालयों और अति अनुशासन माना है। विद्वानों के अनुसार, नौकरशाही विधि निर्माण एवं क्रियान्वयन का उल्लंघन होने पर दण्ड देने का अधिकार अपने पास रखकर तानाशाह की भूमिका ग्रहण कर लेती है। राजतंत्र में सुल्तानों, राजा-महाराजाओं एवं बादशाहों के शासन में राज्य का काम केवल कानून व्यवस्था कायम रखना, राज्य की सुरक्षा तथा अन्य राज्यों पर आक्रमण करना होता था, जिसे राज्य की सेना द्वारा किया जाता था। किन्तु आधुनिक युग में लोक सेवकों द्वारा अनेक प्रकार की सेवाओं का निष्पादन किया जाता है,जिनमें जन्म से मृत्यु तक जीवन के प्रत्येक चरण और प्रत्येक स्तर पर सेवाऐं व्याप्त हैं। ये सेवाऐं सरकार द्वारा निर्मित कानूनों को लागू करती हैं और कार्यक्रमों को क्रियान्वित करती हैं। मार्क्स के शब्दों में ''करोडों लोगों ने नौकरशाही शब्द नहीं सुना है, किन्तु जिस किसी से सुना है,वह या तो इसके प्रति शंकालु है अथवा वह समझता है कि नौकरशाही शब्द किसी ना किसी बुरी बात से सम्बन्धित है। यद्यपि पूछे जाने पर वह इसका सही अर्थ बताने से कताराएगा,परन्तु वह यह अवश्य कह देगा कि इसका मतलब कोई बुरी बात है।''

19वीं शताब्दी में नौकरशाही का अर्थ वैसा ही लिया जाता था,जैसा ऊपर बताया गया है। किन्तु 20वीं शताब्दी में ऐसी धारणाऐं उभरकर आने लगी, जिन्होंने स्वीकार किया कि अधिकारियों के समूहों तथा संगठन की पद्धतियों के बीच शक्ति और आकार के अतिरिक्त अन्य अन्तर भी पाये जाते हैं। इन धारणाओं में एक धारणा अधिकारियों के एक सामाजिक समूह से ध्यान हटाकर,जिन संस्थाओं के लिए वे काम करते हैं, उनके संगठन के तरीकों पर केन्द्रित करती हैं। 20वीं तथा 21वीं शताब्दी में नौकरशाही का इस प्रकार का प्रयोग महत्व रखता है,क्योंकि अब 'नौकरशाही' शब्द का प्रयोग संस्थानों के लिए किया जाने लगा है, ना कि उनमें काम करने वाले अधिकारियों के लिए। ये अधिकारी इसलिए नौकरशाह कहलाने लगे कि वे ना केवल एक सामाजिक समूह के सदस्य हैं,बल्कि इसलिए भी कि वे संस्थानों में कार्य करते हैं। आधुनिक युग में नीति-निर्माण के पश्चात नौकरशाही द्वारा अनेक प्रकार की सेवाओं का निष्पादन किया जाता है,जिनमें जन्म से मृत्यु तक जीवन के प्रत्येक चरण और प्रत्येक स्तर पर ये सेवाऐं व्याप्त हैं। एक बार नीतियों का निर्माण जब कार्यपालिका द्वारा हो जाता है,तो उसके बाद यह नौकरशाही की जबाबदेही हो जाती हो जाती है कि उसे वह उसी रूप में क्रियान्वित करे,भले वह उससे सहमत हो या नहीं। नौकरशाही सरकार द्वारा निर्मित कानूनों को लागू करती हैं और कार्यक्रमों को क्रियान्वित भी करती है। निष्पक्षता एवं सच्चरित्रता के साथ नौकरशाही इन क्रियाकलापों को सम्पादित करती है। लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना के पश्चात इसके कार्यो में अप्रत्याशित वृद्धि हुई है तथा इसकी भूमिका का विस्तार हुआ है। निष्पक्षता की जगह वचनबद्ध नौकरशाही अर्थात सत्तारूढ़ दल के कार्यक्रमों के प्रति समर्पित नौकरशाही ने जगह बनाई है। इसके साथ ही नौकरशाही की सक्रियता राजनीतिक मामलों में भी बढ़ी है।

नौकरशाही का अध्ययन बदलती हुई अवधारणा के अनुसार दो दृष्टिकोण से किया जाता है-

1. **संरचनात्मक दृष्टिकोण-** संरचनात्मक दृष्टि से नौकरशाही एक ऐसी प्रशासनिक व्यवस्था है,जिसमें पदसोपान, विश्लेषण, योग्यता जैसी अनेक विशेषताऐं पाई जाती हैं। कार्ल मार्क्स के शब्दों में "नौकरशाही उन लोगों के पदसोपान, कार्यों के विशेषीकरण तथा उच्च स्तरीय क्षमता से युक्त संगठन है,जिन्हें उन पदों पर कार्य करने के लिए प्रशिक्षित किया गया है।"
2. **कार्यात्मक दृष्टिकोण-** कार्यात्मक दृष्टि से नौकरशाही का अध्ययन सामान्य सामाजिक व्यवस्था का अन्य उपव्यवस्थाओं पर पड़ने वाले नौकरशाही के प्रभाव का अध्ययन है। हेराल्ड लास्की के

अनुसार,'नौकरशाही प्रशासन में नियमों के प्रति अत्यधिक लगाव, नियमों के कठोर पालन, निर्णय लेने में विलम्ब तथा नये परीक्षणों के निषेध का प्रतिनिधित्व करती है।'

के0 डे0 बाटा ने नौकरशाही के उस दृष्टिकोण को आगे बढाया है,जो तीन आयामों पर आधारित हैं। उनके अनुसार संरचनात्मक दृष्टि से, यह मूल्यों से परे है, ना यह नायक है और ना खलनायक। इसको एक ऐसी घटना समझा जा सकता है,जो किसी भी बड़े तथा जटिल संगठन के साथ जुड़ी होती है। व्यवहार की दृष्टि से नौकरशाही एक ऐसा संगठन समझा जाता है,जिसके कुछ कार्यात्मक अथवा विकृत वैज्ञानिक चित्र प्रकट होते हैं। लक्ष्य की पूर्ति अथवा उपलब्धियों की दृष्टि से इसको ऐसा संगठन समझा जाता है,जो प्रशासन में कार्यकुशलता को अधिक से अधिक बढ़ाता है। अथवा प्रशासनिक कुशलता के हितों में संगठित सामाजिक व्यवहार का एक संस्थागत तरीका है।

5.4 नीति-निर्माण में अधिकारी-तन्त्र की भूमिका

आधुनिक युग में अधिकारी-तन्त्र अर्थात नौकरशाही प्रशासन का अनिवार्य एवं अभिन्न अंग है। शासन व्यवस्था चाहे कैसी हो, इसकी अनिवार्यता हरेक प्रणाली में है। हैंस रोजेन्बर्ग ने इसकी महत्ता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि'नौकरशाही अच्छी है या बुरी, शासन की आधुनिक संरचना का एक अनिवार्य अंग, व्यवसायिक प्रशासन की फैली हुई व्यवस्था और उसमें नियुक्त अधिकारियों का पदसोपान है,जिनके ऊपर समाज पूर्णतया आश्रित है। चाहे हम उस प्रकार की सर्वसत्तात्मक तानाशाही के अधीन रहते हों या एक सर्वथा उदार लोकतंत्र के अधीन, हम अधिक सीमा तक किसी ना किसी प्रकार की नौकरशाही के द्वारा शासित हैं।'मैक्स वेबर ने जहाँ इसे आधुनिक राज्य का एक अपरिहार्य तत्व मन है,वहीं हर्बर्ट मौरीसन ने इसे संसदीय प्रजातंत्र का मूल्य माना है। एस0 के0 लाल के शब्दों में "विधायी और न्यायिक कार्यों की प्रकृति अस्थायी होती है,लेकिन नौकरशाही सदैव अविरल रूप से कार्यरत रहती है, क्योंकि इसका कार्यकाल स्थायी होता है। ये लोक नीति के विशिष्ट क्षेत्रों में विशेष तकनीकी योग्यता प्राप्त होते हैं और जनता से सदैव इनका सम्पर्क रहता है। अतः इनके पास ऐसी सूचनाऐं होती हैं, जो लोक नीति के निर्माण और उसे लागू करने के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं।"

विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका, लोकतंत्र के तीन स्तम्भ अवश्य हैं, परन्तु इन स्तम्भों की स्थितिनौकरशाही द्वारा सम्पादित क्रियाकलापों पर ही टिकी होती है, जो इसे प्रारम्भिक सूचना, परामर्श एवं विश्लेषण प्रस्तुत करता है। नौकरशाही अनेक प्रकार के कार्य सम्पन्न करती है यथा-

1. नौकरशाही का संवैधानिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान होता है।
2. नौकरशाह सरकारी-तंत्र के परिचालन की व्यवस्था करते हैं।
3. नौकरशाह ही प्रभारी मंत्री के लिए विस्तृत भुजा का कार्य करते हैं तथा वरिष्ठ लोकसेवक मंत्री के सरकारी भाषण का मसौदा तैयार करते हैं तथा आवश्यक पथ-प्रदर्शन करते हैं।
4. नौकरशाही विभिन्न सेवाओं के प्रबन्धन का कार्य करते हैं।
5. समस्याओं की पहचान कर निदान का भी हर सम्भव प्रयास करते हैं।
6. आधुनिकीकरण एवं आर्थिक विकास की पूरा जिम्मा नौकरशाही पर ही होता है तथा
7. राज्य के अनिवार्य साधन के रूप में यह समस्त कार्यों के प्रति उत्तरदायी भी है।

अर्थात नौकरशाही अपरिहार्य हो गयी है। पीटर एम0 बाल्वो के शब्दों में "नौकरशाही प्रशासन को अधिक कुशल, विवेकशील, निष्पक्ष तथा तर्क-संगत बनाती है। नौकरशाही के बिना प्रशासन शून्य बन जायेगा।" मैक्स बेबर ने नौकरशाही को आदर्श प्रकार माना है। उनका तर्क है कि इसके माध्यम से प्रशासन में उच्च कार्य कुशलता को

लाया जा सकता है। मोटे तौर पर नौकरशाही की भूमिका को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है,पहला- सूचनात्मक, दूसरा- सलाहकारी तथा तीसरा- विश्लेशणात्मक।

राजनीतिक कार्यपालिका एवं विधायिका नीति-निर्माण में नौकरशाही की राय से भी प्रभावित होती है। नीतियों के निर्माण की सारी शुरुआती सूचना नौकरशाही ही उपलब्ध कराती है।जनता से शुरुआती जानकारी, उनकी स्वीकार्यता आदि पहलुओं की जानकारी नौकरशाही जुटाती है। सलाह भी प्रदान करना नौकरशाही की जिम्मेदारी है। विविध पहलुओं का विश्लेषण नौकरशाही करती है तथा राजनीतिक कार्यपालिका के दोस्त, दार्शनिक एवं मार्गदर्शक का कार्य बखूबी निभाती है।

भारतीय सरकार की स्थायी नौकरशाही भारतीय सिविल सेवा है। भारत के संसदीय लोकतंत्र में जनता द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों के साथ वे प्रशासन को चलाने के लिए उत्तरदायी हैं। मंत्रीगण परोक्ष रूप से लोगों के लिए भी जिम्मेदार हैं। लेकिन आधुनिक प्रशासन की कई समस्याओं के साथ मंत्रीगण द्वारा व्यक्तिगत रूप से उनसे निपटने की उम्मीद नहीं की जा सकती है। इस प्रकार मंत्री, नीतियों का निर्धारण करते हैं और नीतियों के निर्वाह के लिए सिविल सेवकों की नियुक्ति की जाती है। कार्यकारी निर्णय भारतीय सिविल सेवकों द्वारा कार्यान्वित किया जाता है। सिविल सेवक, भारतीय संसद के बजाए भारत सरकार के कर्मचारी हैं। सिविल सेवकों के पास कुछ पारम्परिक और संवैधानिक दायित्व भी होते हैं,जो कि कुछ हद तक सत्ता में पार्टी के राजनैतिक शक्ति के लाभ का इस्तेमाल करने से बचाता है। वरिष्ठ सिविल सेवक संसद के स्पष्टीकरण के लिए जिम्मेवार हो सकते हैं। सिविल सेवाओं की जिम्मेदारी भारत के प्रशासन को प्रभावी ढंग से और कुशलतापूर्वक चलाने की है। यह माना जाता है कि भारत जैसे विशाल और विविधतापूर्ण देश के प्रशासन को अपनी प्राकृतिक, आर्थिक और मानव संसाधनों के कुशल प्रबन्धन की आवश्यकता है। मंत्रालय के निर्देशानुसार नीतियों के तहत कई केन्द्रीय एजेंसियों के माध्यम से देश को प्रबन्धित किया जाता है। सिविल सेवाओं के सदस्य केन्द्र सरकार और राज्य सरकार में प्रशासक के रूप मेंविदेशी दूतावासों/मिशनों में दूतों; कर संग्राहक और राजस्व आयुक्त के रूप में, सिविल सेवा कमीशन पुलिस अधिकारियों के रूप में, आयोगों और सार्वजनिक कम्पनियों में कार्यकारी के रूप में और स्थायी रूप से संयुक्त राज्य के प्रतिनिधित्व और इसके अभिकरणों के रूप में प्रतिनिधित्व करते हैं।

5.5 प्रदत्त विधायन एवं अधिकारी-तन्त्र

कार्यपालिका का एक महत्वपूर्ण कार्य कानून का निर्माण है। हालांकि उसका यही एक मात्र कार्य नहीं है। कानून शब्द के अन्तर्गत कोई भी ऐसा नियम, विनिमय, उपविधि या उप-नियम भी आता है जो किसी अधीनस्थ प्राधिकारी ने अधिनियम के उपबन्धों के अनुसरण में में स्पष्ट रूप से दी गई शक्तियों के अधीन तथा अधिनियम में निर्दिष्ट सीमाओं के भीतर रहते हुए बनाये हों। विधि अथवा अधिनियम अथवा कानून का मसौदा अथवा प्रारूप विधेयक के रूप में सभा के समक्ष लाया जाता है। विधेयक चाहे सरकार द्वारा पेश किया गया हो अथवा गैर-सरकारी सदस्य द्वारा, तभी कानून बन सकता है,जब उसे विधायिका की स्वीकृति प्राप्त हो जाय तथा राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त हो जाय। संविधान के उपबन्धों के अनुसार या संसदीय अधिनियम के अन्तर्गत किसी अधीनस्थ प्राधिकरण को प्रत्यायोजित शक्तियों के अधीन बनाये गए प्रत्येक विनियम, नियम, उप-नियम, उप-विधि इत्यादि को उसके राजपत्र में प्रकाशन के पन्द्रह दिन की अवधि के अन्दर लोकसभा के पटल पर रखना आवश्यक है।आधुनिक युग में कार्यपालिका को ना केवल विभिन्न और जटिल प्रकार का, बल्कि मात्रा में भी अत्यधिक कार्य करना पड़ता है। कार्यपालिका के पास इस कार्य को निपटाने के लिए सीमित समय होता है। इसलिए कार्यपालिका

उन सभी कार्यकारी, विधायी तथा अन्य मामलों पर, जो उसके समक्ष आते हैं, गहराई के साथ विचार नहीं कर सकती। अत: कार्यपालिका का बहुत सा काम नौकरशाही द्वारा निपटाया जाता है।

प्रदत्त विधायन द्वारा राजनीतिक कार्यपालिका अपने ढेर सारे क्रियाकलापों को नौकरशाही को सौंप देती है। यह प्रवृति लगातार बढती ही जा रही है। लोक कल्याणकारी राज्य के विकास के बाद नौकरशाही के कार्यों में व्यापक परिवर्तन हुए है। इसके कारण निम्नवत हैं: पहला- कार्यपालिका के कार्यों में अतिशय वृद्धि,दूसरा- समय की कमी,तीसरा- विषय-वस्तु की वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रकृति,चौथा- आकस्मिक कारण आदि।

5.6 अधिकारी-तन्त्र की बढ़ती उपयोगिता

आधुनिक युग में राज्य का शायद कोई ऐसा क्षेत्र है, जहाँ अधिकारी-तन्त्र या नौकरशाही का प्रभाव या सम्बन्ध नहीं हो। पूर्व की अपेक्षा अब संगठन का आकर बहुत बड़ा होने लगा है,जिससे नौकरशाही का विकास होना स्वाभाविक है और भी प्रशासनिक-तन्त्र के नए-नए आयामों ने इसे विस्तारित किया है। आज कोई भी शासकीय प्रणाली इससे अछूता नहीं है। नौकरशाही की बढ़ती उपयोगिता के कारण निम्नलिखित हैं-

1. बौद्धिकता एवं विशेषीकरण;
2. संगठनात्मक कानूनी स्रोत;
3. मनोवैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक वातावरण;
4. तकनीकी आवश्यकताऐं ;
5. लोकतंत्र का उद्-भव एवं विकास; तथा
6. आर्थिक प्रगति।

इसके साथ ही इसकी आवश्यकताओं ने इसे नकारात्मक स्वरुप भी प्रदान कर दिया है। आज नौकरशाही जनविमुख और भ्रष्ट होती जा रही है, जिसके अनेक कारण हैं। सबसे अहम कारण है- नौकरशाही का राजनीतिक रुझान और नौकरशाहों पर राजनीतिक दबाव। नौकरशाही में भ्रष्टाचार एक सच्चाई है। इसके अलावा नौकरशाही संरचना भी लगातार विकृत होती जा रही है। कहीं ना कहीं नौकरशाहों की चयन प्रक्रिया में दोष है। यही वजह है कि विभिन्न प्रशासनिक सुधार आयोगों द्वारा समय-समय पर चयन प्रक्रिया में सुधार लाने हेतु सिफारिश की जाती रही है। इसका एकमात्र मकसद है कि बदलती घरेलू और वैश्विक संरचना में भारतीय प्रशासकों की भूमिका भी बदल रही है,जिसके अनुकूल चयन-प्रणाली होनी चाहिए। आज देश में काफी बदलाव हो चुके हैं। देश में अब वैसी शासन व्यवस्था कायम नहीं रह सकती है,जिसे लालफीताशाही कहते हैं। इसके लिए हमें जनकेन्द्रित और कुशल सामाजिक प्रशासकों की जरूरत है। बदलती जरूरतों के अनुकूल हमारे हर साधन और साध्य बदलें, तभी हम टिकाऊ और समावेशी विकास की दिशा में आगे बढ़ सकते हैं। भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था में गिरावट का ही नतीजा है कि देश में तमाम कल्याणकारी योजनाओं के बावजूद गरीबी, भुखमरी, बेरोजगारी, अशिक्षा और अपराध को खत्म नहीं किया जा सका है। आज देश को अप्रत्यक्ष रूप से चला रहे सिविल सेवकों की चयन प्रक्रिया, प्रशिक्षण और नियोजन की संरचना में मूलभूत सुधार की तत्काल आवश्यकता है।

अभ्यास प्रश्न-

1. 'ब्यूरोक्रेसी' शब्द की उत्पत्ति फ्रांसीसी भाषा के किस शब्द से हुई है?
2. 'नौकरशाही' शब्द अंग्रेजी भाषा के किस शब्द का हिन्दी रूपान्तरण है?
3. 'नौकरशाही' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग किसने किया?

4. नौकरशाही का व्यापक तथा सुस्पष्ट सिद्धान्त विकसित करने का श्रेय किसे दिया जाता है?
5. किसने नौकरशाही को संसदीय प्रजातंत्र का मूल्य माना है?

5.7 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप यह जान चुके होंगे कि 'नौकरशाही' शब्द पर्याप्त अस्पष्ट और अनेक अर्थों को इंगित करता है। प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में नौकरशाही का महत्व निर्विवाद है। यह आधुनिक राज्य का अपरिहार्य तत्व है। प्रशासकीय पदसोपान अधिकारी-तन्त्र की प्रमुख विशेषता है,जिसमें आदेश ऊपर से नीचे की ओर चलता है तथा उत्तरदायित्व नीचे से ऊपर की ओर चलता है। प्रत्येक अधीनस्थ कर्मचारी अपने उच्च पदस्थ अधिकारी के प्रति उत्तरदायी होता है। पूरा संगठन एक पिरामिड की भाँति कार्य करता है,जिससे एक उचित मार्ग प्रक्रिया का निर्माण भी सम्भव हो पाता है। प्रदत्त विधायन के फलस्वरूप राजनीतिक कार्यपालिका अपने ढेर सारे क्रियाकलापों को नौकरशाही को सौंप देती है। यह प्रवृति लगातार बढती ही जा रही है। लोक कल्याणकारी राज्य के विकास के बाद नौकरशाही के कार्यों में व्यापक परिवर्तन हुए है। असल में भारतीय शासन व्यवस्था में नौकरशाही की अहम भूमिका है। मगर जो व्यवस्था अपनाई गई, उसमें नौकरशाहों के लिए स्वतंत्र रूप से काम करने की गुंजाइश लगातार कम होती गई है। हालत यहाँ तक हो गये कि सरकारों के बदलने के साथ ही पूरा प्रशासनिक ढ़ाँचा ही उलट-पुलट जाता है।

5.8 शब्दावली

पदसोपान- पदसोपान का अर्थ है, निम्नतर पर उच्चतर का शासन अथवा नियंत्रण। व्यवहार में इस शब्द का अभिप्राय एक ऐसे संगठन से होता है,जो पदों के उत्तरोत्तर क्रम के अनुसार सीढ़ी की भाँति संगठित किया गया हो।

वचनबद्ध नौकरशाही- सत्तारूढ़ दल के कार्यक्रमों के प्रति समर्पित नौकरशाही।

सरकारिया आयोग- केन्द्र-राज्य सम्बन्धों पर न्यायमूर्ति रणजीत सिंह सरकारिया के नेतृत्व में जून 1983 में गठित एक आयोग।

समूह- कर्मचारियों का एक ऐसा वर्ग जो निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कार्य करता है।

5.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. ब्यूरो,**2.** ब्यूरोक्रेसी (Bureaucracy),**3.**फ्रांसीसी अर्थशास्त्री विन्सेन्ट दि गुर्नी ने,**4.** मैक्स वेबर**5.** हर्बर्ट मौरीसन

5.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. ए0 अवस्थी एवं एस0आर0माहेश्वरी, 2012,लोक प्रशासन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
2. पॉल एच0 एपेल्बी, 1949, पालिसी एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन, अलबामा यूनिवर्सिटी प्रेस।
3. आर0बी0 जैन, 2009, भारतीय प्रशासन में समकालीन मुद्दे,विशाल प्रकाशन, नई दिल्ली।
4. श्रीराम माहेश्वरी,2009, भारतीय प्रशासन, ओरिएंट ब्लैकस्वान, नई दिल्ली।

5.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. मनोज सिन्हा, 2010, प्रशासन एवं लोक नीति, ओरिएंट ब्लैकस्वान, नई दिल्ली।

2. सी0बी0 गेना, 2010, तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाऐं, विकास पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।
3. सुषमा यादव एवं राम अवतार शर्मा, 1997, भारतीय राजनीति ज्वलंत प्रश्न, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

5.12 निबन्धात्मक प्रश्न

1. अधिकारी-तंत्र या नौकरशाही का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
2. नौकरशाही की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
3. नीति-निर्माण में अधिकारी-तन्त्र या नौकरशाही की भूमिका का मूल्यांकन कीजिए।
4. प्रदत्त विधायन में अधिकारी-तन्त्र या नौकरशाही की भूमिका का वर्णन कीजिए।
5. नौकरशाही की बढ़ती उपयोगिता पर प्रकाश डालिए।

इकाई-6 नीति-निर्माण में विधान मण्डल की भूमिका

इकाई की संरचना

6.0 प्रस्तावना
6.1 उद्देश्य
6.2 विधान मण्डल का अर्थ
6.3 भारतीय विधान मण्डल
6.4 विधायी प्रक्रिया
6.5 संसदीय समितियों की भूमिका
6.6 नीति-निर्माण में विधान मण्डल की बदलती भूमिका
6.7 सारांश
6.8 शब्दावली
6.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
6.10सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
6.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
6.12निबन्धात्मक प्रश्न

6.0 प्रस्तावना

समाज के व्यवस्थित संचालन में नियमों की भूमिका अत्यन्त महत्व रखती है। आधुनिक समय में नियम-निर्माण का कार्य करनेवाली संस्थाओं को विधान मण्डल या विधायिका कहा जाता है। इसके साथ-साथ नीति-निर्माण प्रक्रिया में सरकार के तीनों अंग- कार्यपालिका, व्यवस्थापिका एवं न्यायपालिका किसी न किसी रूप में सम्बद्ध होते हैं। इनमें व्यवस्थापिका या विधान मण्डल की भूमिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। नीति-निर्माण प्रधानतः विधानमण्डल का काम है,क्योंकि नीति का आधार एवं प्रारूप विधान मण्डल द्वारा ही निर्धारित एवं निश्चित होता है। विधान मण्डल अपने समक्ष प्रस्तुत प्रत्येक नीतिगत प्रस्तावों पर चर्चा एवं विश्लेषण करती है तथा इन्हें अंतिम रूप देती है। प्रस्तुत इकाई में नीति-निर्माण में विधान मण्डल की भूमिका का विश्लेषण किया गया है। इसके अतिरिक्त इस इकाई में विधायी प्रक्रिया एवं संसदीय समितियों की भूमिका के बारे में भी आप ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

6.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- विधान मण्डल के अर्थ एवं कार्य के बारे में जान पायेंगे।
- नीति-निर्माण में विधान मण्डल की भूमिका के बारे में भी आप जान सकेंगे।
- विधायी प्रक्रिया के सम्बन्ध में भी आप जानकारी जुटाने में सक्षम होंगे।
- संसदीय समितियों की भूमिका एवं कार्य के बारे में भी आप जान पायेंगे।
- विधान मण्डल की बदलती भूमिका का भी ज्ञान होगा।

6.2 विधान मण्डल का अर्थ

नीति-निर्माण सरकार की सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रक्रियाओं में से एक है। किसी देश के सामाजिक-आर्थिक रुपान्तरण में लोक नीति की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। नीति वह साधन या माध्यम है,जिसके सहारे लक्ष्यों को प्राप्त किया जाता है।विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका लोकतंत्र के तीन स्तम्भ हैं।कार्यों की प्रकृति एवं सार्वजनिक उत्तरदायित्व के दृष्टिकोण से विधायिका या विधान मण्डल तीनों अंगों में सर्वोच्च है।'विधायिका' शब्द विधि बनाने वाली सरकारी इकाई के लिये प्रयोग में आता है। भारतीय संविधान में विधायिका की परिभाषा की जगह विधायिका की शक्तियों का तथा उसके अधिकार तथा कर्तव्यों का वर्णन किया गया है, जिसके अन्तर्गत विधायिका को विधि बनाने का अधिकार है।

सामान्यतः विधायिका या विधान मण्डल सरकार का वह अंग है,जिसका कार्य विधि निर्माण है। विश्व में प्राकृतिक और भौगोलिक विविधता के साथ-साथ राजनैतिक संरचना में भी भिन्नता है। राजतंत्र, तानाशाही सत्ता में केन्द्रीकरण के उदाहरण हैं,जबकि प्रजातंत्र और लोकतंत्र में जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों के माध्यम से शासन किया जाता है। किसी देश की विधानमण्डल या विधायिका का स्वरुप एवं संगठन वहाँ की संवैधानिक व्यवस्था द्वारा निर्धारित किया जाता है। विधायिका शब्द, विधि बनाने वाली सरकारी इकाई के लिये प्रयोग में आता है। विधान मण्डलों का विकास लोकतंत्र की स्थापना के साथ ही हुआ है,परन्तु इसका व्यापक अर्थ लें,तो ये काफी प्राचीन प्रतीत होती है। व्यापक अर्थ में व्यक्तियों का वह समूह जो कोई प्रतिनिध्यात्मक आधार नहीं रखते हुए भी शासक को सलाह, सहायता या प्रेरणा देने का कार्य करता है, विधान मण्डल कहा जाता है। सामान्य अर्थ में विधान मण्डल व्यक्तियों का ऐसा समूह है,जो कानून बनाने के अधिकार से युक्त होता है। यह आवश्यक नहीं है कि वह प्रतिनिधियात्मक ही हो। ग्रेट ब्रिटेन की संसद, जिसे 'संसदों की जननी' भी कहा जाता है, वह आज भी सही अर्थों में प्रतिनिधियात्मक नहीं है।

विधायिका का कार्य है विधान(विधि) बनाना, नीति निर्धारण करना, शासन पर संसदीय निगरानी रखना तथा वित्तीय नियंत्रण करना। दूसरी ओर कार्यपालिका का कार्य है,विधायिका द्वारा बनायी गयी विधियों और नीतियों को लागू करना एवं शासन चलाना। कार्यपालिका सरकार का वह अंग है,जिसका कार्य विधान मण्डल द्वारा पारित विधेयकों का क्रियान्वयन करना है। विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका लोकतंत्र के तीन आवश्यक स्तम्भ हैं। संसद की सर्वोच्चता भारतीय शासन की प्रमुख विशेषता है। संसद को विधायिका अथवा व्यवस्थापिका नाम से भी जाना जाता है ।

किसी देश के विधान मण्डल का स्वरुप एवं संगठन वहाँ की संवैधानिक व्यवस्था द्वारा निर्धारित की जाती है। अलग-अलग देशों में इसके संगठन के लिए अलग-अलग आधार अपनाये गये हैं। कुछ देशों में विधान मण्डल का संगठन प्रत्यक्ष रूप से वयस्क मताधिकार के आधार पर होता है,तो कुछ देशों में इसका आधार अप्रत्यक्ष रूप से होता है। आम तौर से द्वितीय सदन के संगठन का आधार अप्रत्यक्ष होता है। विश्व में विधान मण्डल के विविध स्वरुप हैं, यथा- एकसदनात्मक, द्विसदनात्मक, प्रतिनिध्यात्मक, मनोनीत आदि-आदि। विधान मण्डल का संगठन प्रतिनिधित्व एवं राजनीतिक दलों द्वारा भी प्रभावित होता है। सदनों की संख्या, सदन का आकार, कार्यकाल, समिति व्यवस्था एवं अधिकार अलग-अलग देशों में अलग-अलग आधार पर निर्धारित किए गए हैं। विधान मण्डल के किसी रूप की उपयोगिता एवं सार्थकता उस देश की परिस्थितियों एवं जनसंख्या के चरित्र पर निर्भर करती है। राजनीतिक शासन व्यवस्था के विभाजन का एक प्रमुख आधार कार्यपालिका का स्वरूप है। कार्यपालिका एवं विधायिका के परस्पर सम्बन्धों के आधार पर शासन दो रूपों में बाँटा जा सकता है- संसदीय एवं

अध्यक्षात्मक। आधुनिक लोकतन्त्र के युग में सरकार का विभाजन का प्रमुख आधार पर यही है। संसदीय शासन प्रणाली में शासन की व्यवस्था के तीनों आधार स्तम्भ क्रमश: कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका स्वतंत्र होते हैं।

6.3 भारतीय विधान मण्डल

किसी भी देश की शासन व्यवस्था उसके राजनीतिक जीवन का अभिन्न अंग होती है। यह राज्य की नीतियों को लागू कर उसके लक्ष्यों को साकार बनाती है तथा उसे सार्थकता प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। भारतीय संविधान में विधायिका की परिभाषा की जगह विधायिका की शक्तियों का तथा उसके अधिकार तथा कर्तव्यों का वर्णन किया गया है, जिसके अन्तर्गत विधायिका को विधि बनाने का अधिकार है।

भारत एक सम्पूर्ण प्रभुतासम्पन्न, समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष एवं लोकतांत्रिक गणराज्य है। भारतीय संविधान में संसदीय प्रणाली को अपनाया गया है। जिसके अनुसार शासन के दो प्रधान, संवैधानिक एवं वास्तविक होते हैं तथा कार्यपालिका एवं विधायिका में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। संसदीय प्रणाली वाले देशों में नीति-निर्माण एवं प्रशासन एक-दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़े होते है। वस्तुतः विधायिका के सदस्य ही कार्यपालिका का निर्माण करते हैं और कार्यपालिका विधायिका के प्रति उत्तरदायी होती है। इन्हीं कारणों से नीति-निर्माण एवं प्रशासन के मध्य एक अटूट रिश्ता हो जाता है। इस सन्दर्भ में पीटर ओडेगार्ड का कथन बिल्कुल सही है कि 'नीति और प्रशासन राजनीति के जुड़वाँ बच्चे हैं जो एक-दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते हैं।'उपरोक्त कथन ना केवल संसदीय प्रणाली वाले देशों के लिए सही है,बल्कि अध्यक्षीय प्रणाली वाले देशों के सन्दर्भ में भी बहुत हद तक सही है, जहाँ शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धान्तलागू होता है।

'संसदीय' शब्द का अर्थ ही ऐसी लोकतंत्रात्मक राजनीतिक व्यवस्था है,जहाँ सर्वोच्च शक्तिजनता के प्रतिनिधियों के उस निकाय में निहित है,जिसे 'संसद' कहते हैं। भारतीय लोकतंत्र में संसद, जनता की सर्वोच्च प्रतिनिधि संस्था है। इसी माध्यम से आम लोगों की सम्प्रभुता को अभिव्यक्ति मिलती है। संसद ही इस बात का प्रमाण है कि हमारी राजनीतिक व्यवस्था में जनता सबसे ऊपर है,अर्थात जनमत सर्वोपरि है। संसद वह धुरी है,जो देश के शासन की नींव है। संविधान में विधायी शक्तियां संसद एवं राज्य विधानसभाओं में विभाजित की गई हैं तथा शेष शक्तियां संसद को प्राप्त हैं। संविधान में संशोधन का अधिकार भी संसद को ही प्राप्त है। भारत के संविधान में संघीय सरकार और राज्यों की शक्तियों का स्पष्ट विभाजन किया गया है। इस दृष्टि से समस्त कार्यों को तीन सूचियों में बाँट दिया गया है। संघीय सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची। संघ सूची में आये हुए समस्त कार्यों को संघीय सरकार सम्पन्न करती है और राज्य सूची में आए हुए कार्य राज्य सरकार के होते हैं। समवर्ती सूची में आए हुए विषयों पर संघीय और राज्य दोनों ही सरकारें कानून बना सकती है। परन्तु संघीय कानूनों को प्राथमिकता दी जाती है।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 79 द्वारा यह व्यवस्था की गयी है कि "संघ के लिए एक संसद होगी,जो राष्ट्रपति और दो सदनों से मिलकर बनेगी, जिसके नाम क्रमशः लोकसभा और राज्यसभाहोंगे।" भारत का राष्ट्रपति संसद का अंग होता है। संसद द्वारा पारित विधेयक तब तक अधिनियम नहीं बनता,जब तक कि राष्ट्रपति उस पर अपनी स्वीकृति नहीं देता है। यद्यपि राष्ट्रपति संसद के किसी सदन का सदस्य नहीं होता। उसे संसद का अधिवेशन बुलाने, स्थगित करने तथा लोक सभा को भंग करने का अधिकार है। इतना ही नहीं, जब संसद के दोनों सदनों का अधिवेशन ना चल रहा हो और राष्ट्रपति को महसूस हो कि इन परिस्थितियों में तुरन्त कार्यवाही जरूरी है तो वह अध्यादेश जारी कर सकता है। इस अध्यादेश की शक्ति एवं प्रभाव वही होता है,जो संसद द्वारा पास की गई विधि का होता है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति लोकसभा के लिए प्रत्येक आम चुनाव के पश्चात अधिवेशन के शुरू में

और हर साल के पहले अधिवेशन के प्रारम्भ में राष्ट्रपति एक साथ संसद के दोनों सदनों के सामने अभिभाषण करता है। लोक सभा संसद का प्रथम एवं निम्न सदन है। इसे लोकप्रिय सदन भी कहा जाता है। लोक सभा का गठन वयस्क मतदान के आधार पर निर्वाचित सदस्यों से होता है। सदन के सदस्यों की अधिकतम संख्या 552 निर्धारित की गयी है, जिसमें530 सदस्य राज्यों का प्रतिनिधित्व तथा 20 केन्द्र शासित प्रदेशों का प्रतिनिधित्व करते हैं। अधिक से अधिक आंग्ल-भारतीय समुदाय के दो सदस्य राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किए जा सकते हैं। यदि उसके विचार से उस समुदाय का सदन में पर्याप्त नेतृत्व नहीं है तो लोक सभा के कुल निर्वाचित सदस्यों की संख्या का राज्यों के बीच इस तरह वितरण किया जाता है कि प्रत्येक राज्य को आबंटित सीटों की संख्या और राज्य की जनसंख्या के बीच का अनुपात, जहाँ तक व्यवाहारिक हो,सभी राज्यों के लिए बराबर होता है।

वर्तमान में लोक सभा में 545 सदस्य हैं। इनमें से 530 सदस्य प्रत्यक्ष रूप राज्यों से चुने गए हैं और 13 संघ राज्य क्षेत्रों से, जब कि दो सदस्यों का मनोनयन आंग्ल-भारतीय समुदाय का प्रतिनिधित्व करने के लिए राष्ट्रपति द्वारा किया जाता है। भारतीय संविधान के तहत प्रथम आम चुनाव वर्ष 1951-52 में आयोजित किए गए थे तथा प्रथम निर्वाचित संसद अप्रैल 1952 में अस्तित्व में आयी। दूसरी लोकसभा अप्रैल 1957 में, तीसरी लोकसभा अप्रैल 1962 में, चौथी लोक सभा मार्च 1967 में, पाँचवीं लोकसभा मार्च 1971 में, छठी लोकसभा मार्च 1977 में, सातवीं लोकसभा जनवरी 1980 में, आठवीं लोकसभा दिसम्बर 1984 में, नौंवी लोकसभा दिसम्बर 1989 में, दसवीं लोकसभा जून 1991 में, ग्यारहवीं लोकसभा मई 1996 में, बारहवीं लोकसभा मार्च 1998 में, तेरहवीं लोकसभा अक्तूबर 1999 में, चौदहवीं लोकसभा मई 2004 में, पन्द्रहवीं लोकसभा अप्रैल 2009 तथा सोलहवीं लोकसभा मई 2014 में अस्तित्व में आयी।

वहीं दूसरी ओर, राज्य सभा एक स्थायी सदन है तथा इसे भंग नहीं किया जा सकता। इसके एक-तिहाई सदस्य प्रत्येक दूसरे वर्ष सेवानिवृत्त होते हैं तथा उन्हें नए निर्वाचित सदस्यों द्वारा प्रतिस्थापित किया जाता है। प्रत्येक सदस्य छ: वर्ष की अवधि के लिए निर्वाचित होते हैं। राज्य सभा में अधिक से अधिक 250 सदस्य होते हैं,238 सदस्य राज्यों तथा संघ राज्य क्षेत्रों के प्रतिनिधि होंगे तथा 12 सदस्यों को राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किया जाएगा। भारत का उपराष्ट्रपति राज्य सभा का पदेन सभापति है। यह सदन अपने सदस्यों में से एक उप-सभापति का चुनाव भी करता है। इसके अतिरिक्त, राज्यसभा में उप-सभापतियों का एक पैनल होता है। सामान्यतया प्रधानमंत्री द्वारा वरिष्ठतम मंत्री, जो राज्य सभा का सदस्य होता है, को सदन के नेता के रूप में नियुक्त किया जाता है।

6.4 विधायी प्रक्रिया

विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका लोकतंत्र के तीन स्तम्भ अवश्य हैं, परन्तु इन स्तम्भों की स्थिति और स्वरूप एक समान नहीं है। तीनों का स्थान समानान्तर धरातल पर नहीं है। कानून बनाना संसद का प्रमुख काम माना जाता है। इसके लिए पहल अधिकांशतया कार्यपालिका द्वारा की जाती है। सरकार विधायी प्रस्ताव पेश करती है। उस पर चर्चा तथा वाद-विवाद के पश्चात संसद उस पर अनुमोदन की अपनी मुहर लगाती है।

संसद का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य देश के लिए कानून का निर्माण है। संसद को संघ सूची, समवर्ती सूची तथा विशेष परिस्थितियों में राज्य सूची के विषयों पर भी कानून बनाने का अधिकार है। हालाँकि समवर्ती सूची पर संसद एवं राज्य विधान मण्डल दोनों को ही कानून बनाने का अधिकार प्राप्त है, विरोधाभास की स्थिति में संसद द्वारा बनाये गए कानून ही मान्य होते हैं। राज्य विधान मण्डल द्वारा बनाया गया कानून इस सन्दर्भ में स्वतः ही समाप्त माना जाता है। संविधान के अनुच्छेद- 107 से 122 तक कानून बनाने की प्रक्रिया का उल्लेख है।सभी कानूनी प्रस्ताव विधेयक के रूप में संसद में पेश किए जाते हैं। विधेयक विधायी प्रस्ताव का मसौदा होता है। विधेयक संसद

के किसी एक सदन में सरकार द्वारा या किसी गैर-सरकारी सदस्य द्वारा पेश किया जा सकता है। इस प्रकार मोटे तौर पर, प्रस्तुतकर्ता के आधार पर विधेयक दो प्रकार के होते हैं, पहला- सरकारी विधेयक और दूसरा- गैर-सरकारी सदस्यों के विधेयक। विधि का रूप लेने वाले अधिकांश विधेयक सरकारी विधेयक होते हैं। वैसे तो गैर-सरकारी सदस्यों के बहुत कम विधेयक विधि का रूप लेते हैं। फिर भी उनके द्वारा यह बात सरकार और लोगों के ध्यान में लायी जाती है कि मौजूदा कानून में संशोधन करने या कोई आवश्यक विधान बनाने की आवश्यकता है।

प्रकृति के आधार पर सामान्यतः विधेयक दो प्रकार के होते हैं, पहला- साधारण विधेयक, दूसरा- वित्त विधेयक। विधेयक का मसौदा उस विषय से सम्बन्धित सरकार का मंत्रालय, विधि-मंत्रालय की सहायता से तैयार करता है। मंत्रीमण्डल के अनुमोदन के बाद इसे संसद के सामने लाया जाता है। सम्बन्धित मंत्री द्वारा उसे संसद के दोनों सदनों में से किसी भी सदन में पेश किया जा सकता है। केवल धन विधेयक के मामले में यह पाबंदी है कि वह राज्यसभा में पेश नहीं किया जा सकता।

साधारण विधेयक संसद के किसी भी सदन में प्रस्तुत किया जा सकता है। अधिनियम का रूप लेने से पूर्व विधेयक को संसद में पाँचअवस्थाओं से गुजरना पड़ता है। प्रत्येक विधेयक के प्रत्येक सदन में तीन वाचन होते हैं अर्थात पहला वाचन, दूसरा वाचन और तीसरा वाचन। विधेयक का प्रस्तुतीकरण विधेयक का पहला वाचन है। कुछ विषयों से सम्बन्धित विधेयकों को सदन में प्रस्तावित करने से पूर्व राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति आवश्यक होती है। यथा, राज्य की सीमाओं में परिवर्तन आदि। यदि संसद का कोई गैर-सरकारी सदस्य किसी विधेयक को सदन में प्रस्तुत करना चाहता है,तो उसे अध्यक्ष को एक माह पूर्व इसकी सूचना देनी पड़ती है। लेकिन सरकारी विधेयकों को प्रस्तुत करने के लिए किसी प्रकार की सूचना की आवश्यकता नहीं होती। आज्ञा मिल जाने के पश्चात प्रथम वाचन के रूप में विधेयक के शीर्षक को प्रस्तुतकर्ता द्वारा पढ़कर सुना दिया जाता है। परम्परा के अनुसार इस अवस्था में चर्चा नहीं की जाती है। परन्तु एक सामान्य सी बहस इसकी वैधता पर हो सकती है। विधेयक के प्रस्तुतीकरण के पश्चात इसे भारत सरकार के गजट में प्रकाशित कर दिया जाता है।

विधेयक का दूसरा वाचन सबसे अधिक विस्तृत एवं महत्वपूर्ण अवस्था है, क्योंकि इसी अवस्था में इसकी विस्तार एवं बारीकी से जाँच की जाती है। द्वितीय वाचन के प्रारम्भ में विधेयक की प्रतियां सदन के सम्मुख सदस्यों में वितरित कर दी जाती हैं। सामान्यतया विधेयक के प्रथम वाचन एवं द्वितीय वाचन के मध्य दो दिनों का अन्तर रखा जाता है,किन्तु अध्यक्ष या सभापति आवश्यक समझे तो द्वितीय वाचन भी उसी दिन कराया जा सकता है। प्रायः सरकारी विधेयकों का द्वितीय वाचन उसी दिन करा लिया जाता है। इस स्तर पर विधेयक के प्रत्येक अनुच्छेद पर विस्तार से चर्चा नहीं होती, केवल मूल सिद्धान्तों पर ही विचार होता है। इस स्तर पर कोई संशोधन भी प्रस्तुत नहीं किया जाता है। यदि आवश्यक होता है तो विधेयक को संयुक्त प्रवर समिति के विचारार्थ सौंप दिया जाता है।

समिति द्वारा विधेयक के प्रत्येक प्रावधान पर बारीकी से विचार किया जाता है। इस दौरान समिति सम्बन्धित विषय विशेषज्ञों से भी परामर्श ले लेती है। सामान्यतः समिति को विधेयक में संशोधन करने का भी अधिकार है। विधेयक के सभी पहलुओं की समीक्षा के पश्चात निर्धारित अवधि या तीन माह, जैसी भी स्थिति हो, अपना प्रतिवेदन समिति का संयोजक या सभापति सदन में प्रस्तुत करता है।

प्रतिवेदन अवस्था में समिति द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदन एवं संशोधन, यदि कोई हो तो, की प्रतियाँ सदन के समस्त सदस्यों में वितरित कर दी जाती है। यदि प्रवर समिति द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदन सहित विधेयक सदन द्वारा स्वीकार कर लिया जाता है,तो सदन में उक्त संशोधनों सहित विधेयक के हर एक बिन्दु पर विस्तार से चर्चा होती है। इस दौरान सदस्यों द्वारा भी संशोधन पेश किये जा सकते हैं। चर्चा के पश्चात सदन में मतदान कराया जाता है। यदि मतदान

द्वारा विधेयक को स्वीकार कर लिया जाता है,तो इसके साथ ही प्रतिवेदन अवस्था पूर्ण हो जाती है। विधेयक के पारित होने में सर्वाधिक महत्वपूर्ण अवस्था यही होती है।

विधेयक पारित होने की अंतिम अवस्था तीसरा वाचन है। विधेयक के सभी खण्डों पर और अनुसूचियों पर, यदि कोई हों, सदन के विचार करने तथा स्वीकृति पश्चात मंत्री यह प्रस्ताव कर सकता है कि विधेयक को पास किया जाए। यह तीसरा वाचन कहलाता है। इस स्तर पर विधेयक की प्रत्येक धारा पर चर्चा तथा मतदान नहीं होता है बल्कि मूल सिद्धान्तों पर ही वाद-विवाद होता है। जिस सदन में विधेयक पेश किया गया हो,उसमें पास किए जाने के बाद उसे सहमति के लिए दूसरे सदन में भेजा जाता है। वहाँ विधेयक फिर इन तीनों अवस्थाओं में से गुजरता है। किसी विधेयक पर दोनों के बीच असहमति के कारण गतिरोध होने पर एक असाधारण स्थिति उत्पन्न हो जाती है। जिसका समाधान दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में होता है। जब दोनों सदनों द्वारा कोई विधेयक अलग-अलग या संयुक्त बैठक में पास कर दिया जाता है तो उसे राष्ट्रपति के पास भेजा जाता है। राष्ट्रपति के अनुमति मिलते ही, अनुमति की तिथि से विधेयक अधिनियम बन जाता है। इसके पश्चात कानून को सरकारी गजट में प्रकाशित कर दिया जाता है।

दूसरी ओर, वित्त विधेयक संविधान के अनुसार केवल लोक सभा में ही प्रस्तुत किया जा सकता है। कोई भी विधेयक वित्त विधेयक है या नहीं, इसका निर्धारण लोक सभा अध्यक्ष करता है। लोक सभा द्वारा पारित वित्त विधेयक को राज्य सभा में भेजा जाता है। राज्य सभा को 14 दिनों के अन्दर अपनी सुझावों के साथ विधेयक को वापस करना पड़ता है। सुझावों को मानना या ना मानना लोक सभा पर निर्भर है। यदि 14 दिनों के अन्दर वित्त विधेयक राज्य सभा से वापस नहीं आता तो,उसे उसी रूप में पारित मान लिया जाता है,जिस रूप में लोक सभा ने उसे भेजा था। तत्पश्चात राष्ट्रपति की स्वीकृति मिलते ही उसे कानून का रूप मिल जाता है।

6.5 संसदीय समितियों की भूमिका

भारतीय राजव्यवस्था में शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त प्रभावी है,जिसके तहत संविधान में विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के अधिकार क्षेत्र की लक्ष्मण रेखा साफ-साफ खींच दी गई है। इसके अनुसार कानून बनाना विधायिका का काम है, इसे लागू करना कार्यपालिका का और विधायिका द्वारा बनाए गए कानूनों के संविधान सम्मत होने की जाँच करना न्यायपालिका काम है। संविधान समय की मांग के मुताबिक बदला जा सके, इसके लिए उसमें संशोधन जैसा बेहद महत्वपूर्ण अधिकार विधायिका के पास है। संसद के कार्यों में विविधता तो है, साथ ही उसके पास काम की अधिकता भी रहती है। चूँकि उसके पास समय बहुत सीमित होता है, इसीलिए उसके समक्ष प्रस्तुत सभी विधायी या अन्य मामलों पर गहन विचार नहीं हो सकता है। अत: इसका बहुत सा कार्य समितियों द्वारा किया जाता है।

संसद के दोनों सदनों की समितियों की संरचना कुछ अपवादों को छोड़कर एक जैसी होती है। इन समितियों में नियुक्ति, कार्यकाल, कार्य एवं कार्य-संचालन की प्रक्रिया कुल मिलाकर करीब एक जैसी ही है और यह संविधान के अनुच्छेद-118 (1) के अन्तर्गत दोनों सदनों द्वारा निर्मित नियमों के तहत होती है।

सामान्यत: ये समितियां दो प्रकार की होती हैं, स्थायी समितियां और तदर्थ समितियां। स्थायी समितियां प्रतिवर्ष या समय-समय पर निर्वाचित या नियुक्त की जाती हैं और इनका कार्य कमोबेश निरन्तर चलता रहा है। तदर्थ समितियों की नियुक्ति जरूरत पड़ने पर की जाती है तथा अपना काम पूरा कर लेने और अपनी रिपोर्ट पेश कर देने के बाद वे समाप्त हो जाती हैं। लोकसभा की स्थायी समितियों में तीन वित्तीय समितियों, यानी लोक लेखा समिति, प्राकक्लन समिति तथा सरकारी उपक्रम समिति का विशिष्ट स्थान है और ये सरकारी खर्च और निष्पादन पर

लगातार नजर रखती हैं। लोक लेखा समिति तथा सरकारी उपक्रम समिति में राज्य सभा के सदस्य भी होते हैं, लेकिन प्राक्कलन समिति के सभी सदस्य लोकसभा से होते हैं।

लोक लेखा समिति भारत सरकार के विनियोग तथा वित्त लेखा और लेखा नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक की रिपोर्ट की जाँच करती है। यह सुनिश्चित करती है कि सरकारी धन संसद के निर्णयों के अनुरूप ही खर्च हो। यह अपव्यय, हानि और निरर्थक व्यय के मामलों की ओर ध्यान दिलाती है। प्राक्कलन समिति यह निर्धारित करती है कि प्राक्कलनों में निहित नीति के अनुरूप मितव्ययिता बरती जा सकती है या नहीं तथा संगठन, कार्य-कुशलता और प्रशासन में सुधार किस सीमा तक किए जा सकते हैं? यह इस बात की भी जाँच करती है कि धन प्राक्कलनों में निहित नीति के अनुरूप ही व्यय किया जा सकता है या नहीं। समिति इस बारे में भी सुझाव देती है कि प्राक्कलन को संसद में किस रूप में पेश किया जाए? सरकारी उपक्रम समिति नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक की, यदि कोई रिपोर्ट हो, तो उसकी जाँच करती है। वह इस बात की भी जाँच करती है कि ये सरकारी उपक्रम कुशलतापूर्वक चलाए जा रहे हैं या नहीं। इनका प्रबन्धन ठोस व्यापारिक सिद्धान्तों और विवेकपूर्ण वाणिज्यिक प्रक्रियाओं के अनुसार किया जा रहा है या नहीं।

इन तीन वित्तीय समितियों के अलावा, लोकसभा की समिति ने विभागों से सम्बन्धित 17 स्थायी समितियां गठित करने की सिफारिश की थी। इसके अनुसार 8 अप्रैल,1993 को इन 17 समितियों का गठन किया गया। जुलाई 2004 में नियमों में संशोधन किया गया, ताकि ऐसी ही सात और समितियां गठित की जा सकें। इस प्रकार से इन समितियों की संख्या 24 हो गई है। इन समितियों के निम्नलिखित कार्य हैं-

1. भारत सरकार के विभिन्न मंत्रालयों एवं विभागों के अनुदानों की मांग पर विचार करना और उनके बारे में संसद को सूचित करना;
2. लोकसभा के अध्यक्ष या राज्यसभा के सभापति द्वारा समिति के पास भेजे गए ऐसे विधेयकों की जाँच और जैसा भी मामला हो, उसके बारे में रिपोर्ट तैयार करना;
3. मंत्रालयों और विभागों की वार्षिक रिपोर्टों पर विचार करना तथा उसकी रिपोर्ट तैयार करना; और
4. सदन में प्रस्तुत नीति सम्बन्धी दस्तावेज, यदि लोकसभा के अध्यक्ष अथवा राज्य सभा के सभापति द्वारा समिति के पास भेजे गए हैं, उन पर विचार करना और जैसा भी हो, उसके बारे में रिपोर्ट तैयार करना।

इसके अतिरिक्त दोनों सदनों में अन्य स्थायी समितियां भी गठित है, जिनका विवरण निम्न है-

1. **जाँच समितियां-** याचिका समिति विधेयकों और जनहित सम्बन्धी मामलों पर प्रस्तुत याचिकाओं की जाँच करती है। केन्द्रीय विषयों पर प्राप्त प्रतिवेदनों पर विचार करती है। विशेषाधिकार समिति सदन या अध्यक्ष या सभापति द्वारा भेजे गये विशेषाधिकार के किसी भी मामले की जाँच करती है।
2. **आश्वासन समितियां-** सरकारी आश्वासनों से सम्बन्धी समिति मंत्रियों द्वारा सदन में दिए गए आश्वासनों, वादों एवं संकल्पों पर उनके कार्यान्वित होने तक नजर रखती है। अधीनस्थ विधि निर्माण समिति इस बात की जाँच करती है कि क्या संविधान द्वारा प्रदत्त विनियमों, नियमों, उप-नियमों तथा प्रदत्त शक्तियों का प्राधिकारियों द्वारा उचित उपयोग किया जा रहा है?
3. **सदन के दैनिक कार्य से सम्बन्धित समितियां-** कार्य मंत्रणा समिति सदन में पेश किए जाने वाले सरकारी एवं अन्य कार्य के लिए समय-निर्धारण की शिफारिश करती है। इसके अलावा राज्यसभा की कार्य मंत्रणा समिति बहस के लिए समय के निर्धारण की सिफारिश करती है। नियम समिति सदन में कार्यविधि और कार्यवाही के संचालन से सम्बन्धित मामलों पर विचार करती है। नियमों में संशोधन या संयोजन की सिफारिश करती है। सदन की बैठकों में अनुपस्थित सदस्यों सम्बन्धी,लोकसभा की समिति

सदन के सदस्यों की बैठकों से अनुपस्थिति या छुट्टी के आवेदनों पर विचार करती है। राज्यसभा में इस प्रकार की कोई समिति नहीं है। सदस्यों की छुट्टी या अनुपस्थिति के आवेदनों पर सदन स्वयं विचार करता है।

4. **अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के कल्याण की समिति-**इसमें दोनों सदनों के सदस्य होते हैं। यह केन्द्र सरकार के कार्यक्षेत्र में आने वाली अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के कल्याण सम्बन्धी मामलों पर विचार करती है और इस बात पर नजर रखती है कि उन्हें जो संवैधानिक संरक्षण दिए गए हैं, वे ठीक से कार्यान्वित हो रहे हैं या नहीं।
5. **सदस्यों को सुविधाऐं प्रदान करने सम्बन्धी समितियां-** सामान्य प्रयोजन सम्बन्धी समितियाँ सदन से सम्बन्धित ऐसे मामलों पर विचार करती है,जो किसी अन्य संसदीय समिति के अधिकार क्षेत्र में नहीं आते तथा अध्यक्ष सभापति को इस बारे में सलाह देती हैऔर आवास समिति सदस्यों के लिए आवास तथा अन्य सुविधाओं की व्यवस्था करती है। संसद सदस्यों के वेतन और भत्तों सम्बन्धी संयुक्त समिति संसद सदस्यों के वेतन-भत्ते एवं पेन्शन अधिनियम-सन्1954 के अन्तर्गत गठित की गई है। संसद सदस्यों के वेतन-भत्ते एवं पेन्शन सम्बन्धी नियम बनाने के अतिरिक्त, यह उनके चिकित्सा, आवास, टेलीफोन, डाक, निर्वाचन क्षेत्र एवं सचिवालय सम्बन्धी सुविधाओं के सम्बन्ध में नियम बनाती है।

इसके अतिरिक्त अन्य समितियां भी लोकसभा एवं राज्यसभा में क्रियाशील हैं, जिनमें पुस्तकालय समिति, महिला अधिकारिता समिति, आचार संहिता समिति आदि समितियां शामिल हैं।

6.6 नीति-निर्माण में विधान मण्डल की बदलती भूमिका

विधान मण्डल का गठन मूलतः विधि निर्माण के लिए होता है। परन्तु विधि निर्माण के अतिरिक्त विधान मण्डल के अनेक कार्य हैं तथा इसकी शक्तियां भी व्यापक हैं। आधुनिक युग में राज्य का शायद कोई ऐसा क्षेत्र है जहाँ विधान मण्डल या विधायिका का प्रभाव या सम्बन्ध नहीं हो। विधायिका के प्रमुख कार्यो में प्रशासन की देखरेख, बजट पारित करना, लोक शिकायतों की सुनवाई तथा विभिन्न विषयों,यथा विकास योजनाओं, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध एवं राष्ट्रीय नीतियों पर चर्चा करना शामिल है। कतिपय परिस्थितियों में संसद अनन्य रूप से राज्यों के लिए आरक्षित इसकी परिधि के अन्तर्गत आने वाले किसी विषय के सम्बन्ध में विधायी शक्ति को ग्रहण कर सकती है। संसद में राष्ट्रपति पर महाभियोग चलाने, उच्चतम एवं उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों, मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक को संविधान में निर्धारित प्रक्रिया विधि के अनुसार महाभियोग द्वारा हटाने की शक्तियां भी विहित हैं। सभी विधानों के लिए संसद के दोनों सदनों की सहमति आवश्यक है। संविधान में संशोधन आरम्भ करने की शक्ति निहित है।

भारत की संसद के विधायिका के मौलिक कार्य-प्रशासन की देखभाल, बजट पारित करना, लोक शिकायतों की सुनवाई और विभिन्न मुद्दों पर चर्चा करनी होती है,जैसे- विकास योजनाएं, राष्ट्रीय नीतियांऔर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध। केन्द्र और राज्यों के बीच अधिकारों का वितरण, जो संविधान में बताए गए हैं, अनेक प्रकार से संसद का सामान्य प्रभुत्व विधायी क्षेत्र पर है। विषयों की एक बड़ी श्रृंखला के अलावा, सामान्य समय में भी संसद कुछ विशिष्ट परिस्थितियों के तहत उस कार्यक्षेत्र के अन्दर आने वाले विषयों के सन्दर्भ में विधायी अधिकार ले सकती है, जो विशिष्ट रूप से राज्यों के लिए आरक्षित है। संसद कोराष्ट्रपति पर महाभियोग चलाने के अधिकार और उच्चतम न्यायालय एवं उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों को हटाने का अधिकार प्राप्त है। इसे संविधान में बताई गई प्रक्रियाविधि के अनुसार उपरोक्त के साथ मुख्य चुनाव आयुक्त और नियंत्रक एवं महालेखाकार को

निष्कासित करने का अधिकार प्राप्त है। सभी कानूनों को संसद के दोनों सदनों की स्वीकृति आवश्यक है। वित्त विधेयकों के सन्दर्भ मेंयद्यपिलोकसभा की इच्छा मानी जाती है। प्रदत्त विधायन की भी समीक्षा की जाती है और यह संसद के द्वारा नियंत्रित है।

संसदीय लोकतंत्र की परम्पराओं के पालन और उनके संरक्षण के प्रति प्रारम्भिक भारतीय सरकारें बेहद गम्भीर थीं। सन्1952 से लेकर सन्1970 के बीच विपक्ष ने भी संसदीय कामकाज को बहुत गम्भीरता से लिया गया और भारतीय संसद की विशिष्ट कार्यशैली विकसित करने में महत्वपूर्ण योगदान किया। शून्यकाल और प्रश्न काल को सरकार की जवाबदेही सुनिश्चित करने के हथियार के रूप में विकसित करने और उसका कारगर इस्तेमाल करने के काम में मधु लिमये, जॉर्ज फर्नांडिस और ज्योतिर्मय बसु जैसे सांसदों ने विशेष रूप से ख्याति अर्जित की। लेकिन इन दिनों सदन में बढ़ रहे लगातार गतिरोधों से जनता की बुनियादी समस्याओं और देश की राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों पर सार्थक चर्चा नहीं हो पाती। लेकिन अब संसद में महत्वपूर्ण और ज्ञानवर्धक चर्चाऐं बहुत कम देखने में आती हैं। इस कारण जनता की निगाह में संसद और सांसदों की प्रतिष्ठा गिरी है। सरकार और उसके विभागों में व्याप्त भ्रष्टाचार संसद में भी प्रवेश कर गया है। कुछ साल पहले 'नोट के बदले वोट' वाले मामले में कई सांसदों की सदस्यता समाप्त की गयी। इसीलिए आज देश में सम्पूर्ण राजनीतिक-वर्ग को संदेह की दृष्टि से देखा जाने लगा है ।

संसदीय लोकतंत्र में बहुमत का शासन है। संसद के सत्रों में चर्चा का प्रावधान इसीलिए किया गया है ताकि सरकार द्वारा लाये गए विधेयकों पर सार्थक चर्चा द्वारा विपक्ष उनमें संशोधन सुझा सके और तर्कपूर्ण ढंग से सरकार के सामने अपना दृष्टिकोण रखकर उसके नजरिए में बदलाव लाने की कोशिश कर सके।

अभ्यास प्रश्न-

1. भारत में संघीय विधान मण्डल को किस नाम से जाना जाता है?
2. भारतीय संसद में कितने सदन होते हैं?
3. कोई भी विधेयक वित्त विधेयक है या नहीं, इसका निर्धारण कौन करता है?
4. भारत सरकार के विनियोग तथा वित्त लेखा और लेखा नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक की रिपोर्ट की जाँच कौन करता है?

6.7 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप यह जान चुके होंगे कि विधायिका शब्द विधि बनाने वाली सरकारी इकाई के लिये प्रयोग में आती है। नीति-निर्माण प्रक्रिया में सरकार के तीनों अंग- कार्यपालिका, व्यवस्थापिका एवं न्यायपालिका, किसी ना किसी रूप में सम्बद्ध होते हैं। कार्यों की प्रकृति एवं सार्वजनिक उत्तरदायित्व के दृष्टिकोण से विधायिका या विधानमण्डल तीनों अंगों में सर्वोच्च है।भारतीय संविधान में संसदीय प्रणाली को अपनाया गया है,जिसके अनुसार कार्यपालिका एवं विधायिका एक-दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़े होते हैं। वस्तुतः विधायिका के सदस्य ही कार्यपालिका का निर्माण करते हैं और कार्यपालिका विधायिका के प्रति उत्तरदायी होती है। इन्हीं कारणों से नीति-निर्माण एवं प्रशासन के मध्य एक अटूट रिश्ता हो जाता है। भारतीय संसद का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य देश के लिए कानून का निर्माण है। संसद को संघ सूची, समवर्ती सूची तथा विशेष परिस्थितियों में राज्य सूची के विषयों पर भी कानून बनाने का अधिकार है। भारत का राष्ट्रपति संसद का अंग होता है। संसद द्वारा पारित विधेयक तब तक अधिनियम नहीं बनता,जब तक कि राष्ट्रपति उस पर अपनी स्वीकृति नहीं देता है। यद्यपि राष्ट्रपति संसद के

किसी सदन का सदस्य नहीं होता, उसे संसद का अधिवेशन बुलाने, स्थगित करने तथा लोक सभा को भंग करने का अधिकार है। संसद के कार्यों में विविधता तो है साथ ही उसके पास काम की अधिकता भी रहती है। चूँकि उसके पास समय बहुत सीमित होता है, इसीलिए उसके समक्ष प्रस्तुत सभी विधायी या अन्य मामलों पर गहन विचार नहीं हो सकता है। अत: इसका बहुत सा कार्य समितियों द्वारा किया जाता है। संसद के कार्यों में निरन्तर हो रहे परिवर्तन के कारण आप इसकी भूमिका में भी बदलाव पायेंगे।

6.8 शब्दावली

संविधान- कानूनों का संग्रह एवं देश का सर्वोच्च कानून, संविधान संशोधन- संविधान के उपबन्धों में आंशिक या पूर्ण परिवर्तन, संवैधानिक प्रधान- शासन व्यवस्था में नाम मात्र का प्रधान, अधिनियम- कानून, प्रावधान- कानूनी व्यवस्था।

6.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. संसद,**2.** दो- लोक सभा एवं राज्य सभा,**3.** लोक सभा अध्यक्ष,**4.** लोक लेखा समिति

6.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. श्रीराम माहेश्वरी,2009, भारतीय प्रशासन, ओरिएंट ब्लैकस्वान, नई दिल्ली।
2. चार्ल्स ई0 लिंडब्लौम, 1968, द पौलिसी मेकिंग प्रोसेस, इंगलवुड क्लिप्स, एन0 जे0 प्रेन्टिस हॉल, आई0एन0सी0।
3. पॉल एच0 एपेल्बी, 1949, पालिसी एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन, अलबामा यूनिवर्सिटी प्रेस।
4. सुरेन्द्र कटारिया, 2009, प्रशासन एवं लोक नीति, मयूर पेपरबैक्स, नई दिल्ली।
5. मनोज सिन्हा, 2010, प्रशासन एवं लोक नीति, ओरिएंट ब्लैकस्वान, नई दिल्ली।

6.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. आर0 बी0 जैन, 2009, भारतीय प्रशासन में समकालीन मुद्दे,विवेक प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. सी0 बी0 गेना, 2010, तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाऐं, विकास पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।
3. सुषमा यादव एवं राम अवतार शर्मा, 1997, भारतीय राजनीति ज्वलंत प्रश्न, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय,दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

6.12 निबन्धात्मक प्रश्न

1. विधान मण्डल के सम्बन्ध में विस्तार से समझाइये।
2. नीति-निर्माण में विधान मण्डल की भूमिका का विश्लेषण कीजिए।
3. भारत में विधायी प्रक्रिया का वर्णन कीजिए।
4. संसदीय समितियों की उपयोगिता एवं कार्यों का वर्णन कीजिए।
5. विधायिका की निरन्तर बदलती भूमिका पर प्रकाश डालिए।

इकाई- 7 नीति-निर्माण में न्यायपालिका की भूमिका

इकाई की संरचना

7.0 प्रस्तावना
7.1 उद्देश्य
7.2 न्यायपालिका का अर्थ
7.3 भारत में न्यायपालिका एवं उसका स्वरुप
7.4 न्यायपालिका के कार्य
7.5 नीति-निर्माण में न्यायपालिका का प्रभाव
7.6 नीति-निर्माण में न्यायपालिका का महत्व
7.7 न्यायिक समीक्षा
7.8 सारांश
7.9 शब्दावली
7.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
7.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
7.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
7.13 निबन्धात्मक प्रश्न

7.0 प्रस्तावना

सामाजिक जीवन को नियंत्रित करने के लिए विधि अर्थात् कानून सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन है और इन कानूनों के अनुसार न्याय करने का कार्य न्यायपालिका का है। न्यायपालिका केवल नागरिकों के बीच के विवादों का ही निर्णय नहीं करती,अपितु यह उन विवादों पर भी फैसला करती है जो नागरिकों एवं राज्य के मध्य विवादों से उत्पन्न होते हैं। वास्तव में न्यायपालिका का प्रमुख कार्य कानूनों एवं नीतियों के क्रियान्वयन की प्रक्रिया एवं उनके औचित्य को निर्धारित करना है। लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था मूलतः निष्पक्ष एवं स्वतंत्र न्यायपालिका पर ही टिकी होती है। प्रस्तुत इकाई में नीति-निर्माण में न्यायपालिका की भूमिका का विश्लेषण किया गया है। इसके अतिरिक्त इस इकाई में न्यायपालिका के कार्य, प्रभाव एवं महत्व के बारे में भी आप ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे। साथ ही न्यायिक समीक्षा से भी आप परिचित होंगे।

7.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- न्यायपालिका के अर्थ एवं कार्य के बारे में ज्ञान प्राप्त कर पाओगे।
- नीति-निर्माण में न्यायपालिका की भूमिका के बारे में भी जान सकेंगे।
- न्यायपालिका के कार्य, प्रभाव एवं महत्व के बारे में भी आपको ज्ञान प्राप्त होगा।
- न्यायिक समीक्षा के सम्बन्ध में भी जानकारी प्राप्त करने में सक्षम होंगे।

7.2 न्यायपालिका का अर्थ

न्यायपालिका किसी भी लोकतन्त्र के तीन प्रमुख अंगों में से एक है । अन्य दो अंग हैं- कार्यपालिका और व्यवस्थापिका । व्यवस्थापिका राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति कानूनों के रूप में करती है तथा कार्यपालिका इनको कार्य रूप देती है वहीं, न्यायपालिका इन कानूनों की व्याख्या करने और इनका उल्लंघन करने वालों को दण्डित करने का कार्य करती है। इस प्रकार सरकार के अंगों में न्यायपालिका का महत्वपूर्ण स्थान रहता है। लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्थाऐं वास्तव में स्वतंत्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका पर ही टिकी होती हैं। नागरिकों की स्वतंत्रता की रक्षा करने वाली एक मात्र संरचना होने के कारण जनसाधारण के लिए इसका महत्व अत्यधिक है। लार्ड ब्राइस ने ठीक ही लिखा है "न्यायपालिका राज्य के लिए एक आवश्यकता ही नहीं है, अपितु उसकी क्षमता से बढ़कर सरकार की उत्तमता की कोई कसौटी ही नहीं है।" सबको समान न्याय सुनिश्चित करना है न्यायपालिका का असली काम है। साधारण अर्थ में कानूनों की व्याख्या करने एवं उनका उल्लंघन करने वाले व्यक्तियों को दण्डित करने की संस्थागत व्यवस्था को न्यायपालिका कहा जाता है। यह उन व्यक्तियों का समूह है, जिन्हें कानून के अनुसार समाज के विवादों को हल करने का अधिकार प्राप्त होता है। इस अर्थ में न्यायपालिका सरकार का एक विशिष्ट अंग है, जिसको कानूनों का पालन कराने के लिए विशेष अधिकार प्राप्त होते हैं। हेरोल्ड लास्की के शब्दों में "एक राज्य की न्यायपालिका अधिकारियों के ऐसे समूह के रूप में परिभाषित की जा सकती है, जिसका कार्य राज्य के किसी कानून विशेष के उल्लंघन या तोड़ने सम्बन्धी शिकायत, जो विभिन्न लोगों के मध्य या नागरिकों एवं राज्य के मध्य एक दूसरे के विरुद्ध होती है, का समाधान एवं फैसला करना है।" इस प्रकार न्यायपालिका न्यायिक प्रक्रिया की संरचनात्मक व्यवस्था है। वाल्टन हैमिल्टन के अनुसार "न्यायिक प्रक्रिया न्यायाधीशों के द्वारा मुकदमों का निर्णय करने की मानसिक प्राविधि है।" यह व्यवस्थित कानूनी लड़ाई के लिए की गयी व्यवस्था के अन्तर्गत जाँच करने का तरीका है। यह हमेशा मुकदमें के फैसले के बिंदु की तरफ संकेन्द्रित होने की प्रवृति रखती है। इस प्रकार न्यायपालिका न्यायिक प्रक्रिया की संरचित व्यवस्था के रूप में समाज के स्थापित कानून को लेकर उठने वाले विवादों के समाधान करने का एक संस्थागत यन्त्र है।

7.3 भारत में न्यायपालिका एवं उसका स्वरुप

विधायिका तथा कार्यपालिका के साथ, न्यायपालिका राज्य के तीन आधारभूत अंगों में से एक है। राज्य के कार्य संचालन में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका है। यह बात विधि के शासन पर आधारित लोकतंत्र पर और भी अधिक लागू होती है। इसके साथ-साथ संसदीय शासन प्रणाली में शासन की व्यवस्था के तीनों आधार स्तम्भ क्रमश: कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका स्वतंत्र होते हैं। 'शक्तियों के पृथक्करण सिद्धान्त' के अनुरूप न्यायपालिका स्वयं कोई नियम नहीं बनाती और ना ही यह कानून का क्रियान्वयन कराती है।

किसी भी देश की न्याय व्यवस्था उसके सामाजिक-राजनीतिक जीवन का अभिन्न अंग होती है। न्यायपालिका राज्य की आकांक्षाओं के अनुरूप उसके लक्ष्यों को साकार बनाने में सहायक होती है तथा उसे सार्थकता प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। न्यायपालिका की उपयोगिता एवं सार्थकता उस देश की परिस्थितियों एवं जनसंख्या के चरित्र पर निर्भर करती है। आधुनिक न्यायपालिकाओं का संगठन राजनीतिक संस्कृतियों की भिन्नता, ऐतिहासिक परम्परा, राजनीतिक व्यवस्था की प्रकृति आदि कारणों से हरेक देश में भिन्न होती है। उदाहरण के तौर पर संघात्मक व्यवस्था की न्यायपालिका अपने संगठनात्मक तौर पर एकात्मक व्यवस्था की न्यायपालिका से अवश्य भिन्न होती है। इसी प्रकार न्यायिक व्यवस्था का संगठन साम्यवादी तथा स्वेच्छाचारी

राजनीतिक व्यवस्थाओं में भिन्न होता है। संविधान की प्रकृति भी न्यायिक व्यवस्था के स्वरुप को निर्धारित करती है। सामान्य तौर पर न्यायपालिका का संगठन पिरामिड की भाँति होता है,जिसके शीर्ष पर सर्वोच्च न्यायालय स्थित होता है। अलग सामान्य एवं प्रशासकीय न्यायालय व्यवस्था का अस्तित्व, पीठ व्यवस्था, विशेषीकृत न्यायालय व्यवस्था इसकी अन्य विशेषताऐं हैं।

भारत में संविधान द्वारा संवैधानिक प्रजातंत्र की स्थापना की गयी है, जिसमें शक्तियों का विभाजन ना केवल कार्यात्मक दृष्टि से बल्कि भौगोलिक दृष्टि से भी किया गया है। संविधान द्वारा परिकल्पित सामाजिक कल्याणकारी राज्य में, राज्य को जनता के कल्याण के लिए अनेक दायित्वों का निर्वाह करना होता है। राज्य की भूमिका के इस विस्तार के कारण विविध क्षेत्रों में कानून निर्माण की आवश्यकता पड़ी है, जिससे न्यायपालिका की भूमिका में भी तद्रूप(के अनुसार) वृद्धि हो गई है। आज न्यायपालिका केवल नागरिकों के आपसी विवाद ही नहीं,अपितु नागरिक और राज्य के बीच के विवादों का भी निपटारा करती है। जिन विवादों का निर्णय करना अपेक्षित है, उनके बदलते स्वरूप के कारण ही विशेष न्यायालयों और अधिकरणों की स्थापना करनी पड़ी है। आज पारिवारिक विवाद, कराधान दुर्घटनाजन्य दावे, श्रम विवाद, सरकारी कर्मचारी, उपभोक्ता संरक्षण, एकाधिकार और अवरोधक व्यवहार आदि से सम्बन्धित प्रश्नों के लिए देश में कई ऐसे विशेष न्यायालय एवं अधिकरण कार्यरत हैं। न्यायपालिका के अन्तर्गत एक सर्वोच्च न्यायालय स्थापित है एवं उसके अधीन विभिन्न न्यायालय होते हैं।

अत्यन्त प्राचीन काल सेविधि और न्यायपालिका ने भारत की राज्य व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। हमारे प्राचीन धर्म ग्रन्थों में इसके महत्त्व को स्वीकार किया गया है। हमारे संविधान में विधायी तथा प्रशासनिक कार्यवाही की न्यायिक समीक्षा करने की शक्ति न्यायपालिका को प्रदान की गई है। संविधान में प्रत्याभूत मूल अधिकारों के प्रवर्तन का कार्य न्यायपालिका को सौंप कर न्यायपालिका को एक गौरवपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। भारत की स्वतंत्र न्यायपालिका का शीर्ष सर्वोच्च न्यायालय है,जिसका प्रधान, प्रधान न्यायाधीश होता है। सर्वोच्च न्यायालय को अपने नये मामलों तथा उच्च न्यायालयों के विवादों, दोनों को देखने का अधिकार है। भारत में 22 उच्च न्यायालय हैं, जिनके अधिकार और उत्तरदायित्व सर्वोच्च न्यायालय की अपेक्षा सीमित हैं। सर्वोच्च न्यायालय को अन्तिम न्याय-निर्णयन का अधिकार प्राप्त है। प्रत्येक राज्य या कुछ समूह पर उच्च न्यायालय गठित हैं। उच्च न्यायालय के तहत श्रेणीबद्ध अधीनस्थ न्यायालय हैं। कुछ राज्यों में पंचायत न्यायालय का भी गठन किया गया है। ये न्यायालय अलग-अलग नामों यथा- न्याय पंचायत, पंचायत अदालत, ग्राम कचहरी आदि से काम करते हैं। प्रत्येक राज्य में जिला स्तरों पर जिला न्यायालय स्थापित किये गये हैं। इसके अध्यक्ष जिला एवं सत्र न्यायाधीश होते हैं, जो जिले का सर्वोच्च न्यायिक अधिकारी होता है। जिला न्यायालय मूल अधिकार क्षेत्र के प्रमुख दीवानी न्यायालय होते हैं। इन न्यायालयों में मृत्युदण्ड दिये जा सकने वाले अपराधों तक की सुनवाई होती है। इसके अधीन दीवानी न्यायालय होता हैं, जिसे विभिन्न राज्यों में मुंसिफ न्यायालय कहा जाता है। फौजदारी न्यायालयों में मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट होते हैं। इन सबके अतिरिक्त देश में विभिन्न अधिकरण तथा आयोग भी स्थापित किये गये हैं, जो कि पारम्परिक न्यायालय भले ही ना हों, परन्तु वे विधिक प्रक्रिया द्वारा अनेक विवादों को हल करने में सक्रिय भूमिका निभाते हैं।

संविधान के भाग-3 में व्यक्तियों तथा नागरिकों को कुछ मूल अधिकार सौंपे गये हैं। विधायिका एवं कार्यपालिका पर यह प्रतिबन्ध लगाया गया है कि वे ऐसा कानून ना बनायें, जो मूल अधिकारों का उल्लंघन करें। स्वतंत्र न्यायपालिका की स्थापना करके यह दायित्व उस पर सौंपा गया कि यदि राज्यों द्वारा मूल अधिकारों का उल्लंघन किया जाता है, तो वह मूल अधिकारों को प्रवर्तित कराये। इस प्रकार न्यायपालिका मूल अधिकारों की रक्षक भी है।

इसके साथ ही भारत में स्वतंत्र न्यायपालिका की स्थापना भी की गयी है।भारत का संविधान लिखित है,जिसके अनुसार केन्द्र तथा राज्य सरकारों के मध्य शक्तियों का स्पष्ट विभाजन हुआ है। इस विभाजन को स्पष्ट करना स्वाभाविक है। जिसके लिए स्वतंत्र न्यायपालिका की स्थापना करके संविधान की व्याख्या करने का अधिकार उसे दिया गया है। संविधान में केन्द्र तथा राज्यों के मध्य शक्तियों का स्पष्ट विभाजन किया गया है,लेकिन इन दोनों के मध्य विवाद उत्पन्न हो सकते हैं। इन विवादों को न्यायिक ढंग से निबटाने के लिए स्वतंत्र न्यायपालिका की आवश्यकता थी। भारत में न्यायपालिका को स्वतंत्र रूप से कार्य करने का अवसर प्रदान करने के लिए संविधान में कुछ ऐसे प्रावधान किये गये हैं, जिससे न्यायाधीशों को विधानमण्डलों या कार्यपालिका के प्रत्यक्ष प्रभाव से मुक्त रखा जा सके। संविधान में न्यायपालिका की स्वतंत्रता के लिए निम्नलिखित प्रावधान किये गये हैं-

1. सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को नियुक्त करने का अधिकार राष्ट्रपति को दिया गया है, लेकिन न्यायाधीशों को पद से हटाने का अधिकार राष्ट्रपति को प्राप्त नहीं है। संविधान के अनुसार इन न्यायालयों के किसी भी न्यायाधीश को राष्ट्रपति तब तक पदमुक्त नहीं कर सकता है, जब तक संसद के दोनों सदन अपने सदस्यों के बहुमत तथा उपस्थित एवं मतदान करने वाले सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से किसी न्यायाधीश को पदमुक्त करने का प्रस्ताव पारित कर दें। पदमुक्त करने की इस प्रक्रिया के कारण यह सम्भावना कम हो जाती हैकि किसी न्यायाधीश को राजनीतिक कारणों या दलीय आधार पर आसानी से पदमुक्त किया जा सके।
2. यद्यपि उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों को राष्ट्रपति मंत्रीपरिषद की सलाह से नियुक्त करता है, लेकिन इन न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति को राजनीति के क्षेत्र से अलग करके यह अपेक्षा की गयी है कि राष्ट्रपति न्यायाधीशों को नियुक्त करते समय भारत के मुख्य न्यायाधीश से सम्पर्क करें। 16 अक्टूबर, 1993 को उच्चतम न्यायालय द्वारा दिये गये निर्णयों के अनुसार न्यायाधीशों को नियुक्त करते समय राष्ट्रपति को भारत के मुख्य न्यायाधीश की राय को वरीयता देना चाहिए और यदि किसी कारण से भारत के मुख्य न्यायाधीश की राय को वरीयता ना दी जाए, तो उस कारण की सूचना मुख्य न्यायाधीश को दी जानी चाहिए।
3. संविधान के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय के न्यायाधीश पदमुक्त होने के बाद सरकार के अधीन किसी पद को ग्रहण नहीं कर सकते हैं, या अधीनस्थ न्यायालयों में वकालत नहीं कर सकते हैं। पदमुक्त होने के बाद इस प्रकार के नियोजन की आशा से अप्रत्यक्ष रूप से न्यायाधीश की स्वतंत्रता कम होती है और वह कार्यपालिका के असर में आ जाता है।
4. न्यायपालिका की स्वतंत्रता को सुरक्षित करने के लिए संविधान में यह प्रावधान करके न्यायाधीशों को आर्थिक संरक्षण प्रदान किया गया है कि न्यायाधीशों के वेतन तथा सेवा शर्तों आदि का निर्धारण संसद द्वारा किया जाएगा। लेकिन किसी भी न्यायाधीश के वेतन तथा सेवा-शर्तों आदि में उसके पदावधि के दौरान कोई ऐसा परिवर्तन नहीं किया जाएगा, जिससे उसे हानि हो। इसका तात्पर्य यह है कि न्यायाधीशों के वेतन तथा सेवा-शर्तों आदि में परिवर्तन करने की धमकी देकर उनसे कोई इच्छित कार्य नहीं कराया जा सकता।
5. सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय का अपना संगठन पृथक होता है, जिसके लिए कर्मचारियों की नियुक्ति तथा उनकी सेवा-शर्तें आदि को निर्धारित करने का अधिकार सम्बन्धित न्यायालयों को होता है। इस स्वतंत्रता के कारण सरकार या संसद न्यायालयों की स्थापना के सम्बन्ध में हस्तक्षेप नहीं कर सकती

हैं। इसके अतिरिक्त इन न्यायालयों को अपनी आन्तरिक प्रक्रिया को भी विनियमित करने का अधिकार है।

6. सर्वोच्च न्यायालय या उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को राजनीतिक प्रभाव से मुक्त रखने के लिए संविधान में यह प्रावधान किया गया है कि इन न्यायालयों के न्यायाधीशों के आचरण के विषय में संसद में कोई चर्चा उस न्यायाधीश को हटाने के समावेदन को राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत करने के प्रस्ताव पर ही होगी और अन्यथा नहीं।
7. न्यायालयों की स्वतंत्रता को सुनिश्चित करने के लिए संविधान में यह प्रावधान भी किया गया है कि सर्वोच्च न्यायालय या उच्च न्यायालय के प्रशासनिक व्यय और इन न्यायालयों में कार्यरत न्यायाधीशों और अन्य कर्मचारियों को वेतन-भत्ते आदि भारत की संचित निधि से दिये जायेंगे और संसद उन पर मतदान नहीं कर सकती।

सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को उनके पद से हटाने के लिए संविधान में अनुच्छेद-124(4) में 'महाभियोग' का प्रावधान किया गया है। इसके अनुसार किसी न्यायाधीश को उसके पद से तब तक नहीं हटाया जाएगा, जब तक कदाचार या असमर्थता के आधार पर ऐसे हटाए जाने के लिए संसद के प्रत्येक सदन द्वारा अपनी कुल संख्या के बहुमत द्वारा तथा उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के कम से कम दो तिहाई बहुमत द्वारा तथा समर्थित प्रस्ताव राष्ट्रपति के समक्ष उसी सत्र में रखे जाने पर राष्ट्रपति ने आदेश नहीं दे दिया है। संविधान के द्वारा संसद को यह अधिकार दिया गया है कि वह किसी न्यायाधीश के विरुद्ध संसद के समक्ष प्रस्ताव के रखे जाने की तथा न्यायाधीश के कदाचार या असमर्थता की जाँच और साबित करने की प्रक्रिया का विधि द्वारा विनियमन कर सकती है। संसद ने इस अधिकार का प्रयोग करके न्यायाधीश (जाँच) अधिनियम-सन्1968 को अधिनियमित किया है। इस अधिनियम की धारा- 3 में न्यायाधीशों के विरुद्ध प्रस्ताव रखने की प्रक्रिया वर्णित की गयी है।

7.4 न्यायपालिका के कार्य

न्यायपालिका के कार्य विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं में अलग-अलग होते हैं। संविधान की प्रकृति, राज व्यवस्था का स्वरुप, राजनीतिक सत्ता की संरचनात्मकता एवं स्वयं न्यायपालिका का संगठन, शक्तियों एवं कार्य प्रणाली से न्यायपालिका के कार्यों का निरूपण होता है। संविधान का लिखित या अलिखित होना एवं उसकी कठोरता एवं लचीलापन भी न्यायपालिका के कार्यों का निर्धारक बन जाता है। न्यायपालिकासम्प्रभु राज्य की ओर से कानून की व्याख्या करता है एवं कानून के अनुसार ना चलने वालों को दण्डित करती है। इस प्रकार न्यायपालिका विवादों को सुलझाने एवं अपराध कम करने का काम करती है,जो अप्रत्यक्ष रूप से समाज के विकास का मार्ग प्रशस्त करता है।

विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका लोकतंत्र के तीन स्तम्भ अवश्य हैं, परन्तु इन स्तम्भों की स्थिति और स्वरूप एक समान नहीं है। तीनों का स्थान समानान्तर धरातल पर नहीं है। कानून बनाना संसद का प्रमुख काम माना जाता है। इसके लिए पहल अधिकांशतया कार्यपालिका द्वारा की जाती है। सरकार विधायी प्रस्ताव पेश करती है। उस पर चर्चा तथा वाद-विवाद के पश्चात संसद उस पर अनुमोदन की अपनी मुहर लगाती है।यद्यपि भारत में इंग्लैण्ड की संसदीय शासन-प्रणाली के आधार पर संसदीय सरकार की स्थापना की गयी है। लेकिन इंग्लैण्ड, जहाँ संसदीय सर्वोच्चता को मान्यता दी गयी है, के विपरीत भारत में संविधान की सर्वोच्चता के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। भारत में संविधान को देश की मौलिक विधि माना जाता है और यह केन्द्र तथा राज्य

सरकारों की राजनीतिक सत्ता का स्रोत तथा नागरिकों के अधिकारों एवं कर्तव्यों का निर्धारक है। सर्वोच्च न्यायालय संविधान का रक्षक है और यह सरकार द्वारा या किसी अन्य शक्ति द्वारा संविधान के प्रावधानों के उल्लंघन को रोकता है। भारत के संविधान द्वारा सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों को न्यायिक पुनरावलोकन का अधिकार प्रदान किया गया है, जिसके द्वारा ये न्यायालय केन्द्र तथा राज्य सरकारों द्वारा बनाये गये कानूनों की संवैधानिकता का परीक्षण करते हैं। यदि इस परीक्षण के परिणामस्वरूप कोई कानून,जो विधायिका के द्वारा और कार्यपालिका द्वारा निर्मित हो, संविधान के किसी प्रावधान के विरुद्ध पाया जाता हैतो न्यायालय उसे अमान्य कर सकते हैं। इस प्रकार भारत में विधायिका या कार्यपालिका केवल उन्हीं विषयों पर कानून बना सकती हैजो कि संविधान द्वारा उन्हें सौंपे गये हैं और यदि वे इसके विपरीत कानून का निर्माण करते हैंतो न्यायालय ऐसे कानून को असंवैधानिक करार कर उसको लागू किये जाने से रोक सकती है। इस प्रकार मोटे तौर पर न्यायपालिका के कार्यों को दो भागों में बांटा जा सकता है,पहला- राजनीतिक पद्धति सम्बन्धी कार्य एवं दूसरा- न्यायिक पद्धति सम्बन्धी कार्य।

आम लोगों में अपने अधिकारों के प्रति बढ़ती जागरूकता के कारण मुकद्मों की संख्या में काफी वृद्धि हो गई है और उसके फलस्वरूप न्यायालयों द्वारा न्याय प्रदान करने में विलम्ब होता है। इसने विवादों के त्वरित अधिनिर्णयन के लिए वैकल्पिक साधन ढूंढ़ने की आवश्यकता को जन्म दिया है। ऐसा ही एक साधन लोक अदालतों का है, जिसमें विवादी पक्ष न्यायालयों में लम्बित मामलों को परस्पर सहमति से सुलझा सकते हैं। यह साधन काफी सफल सिद्ध हुआ है।

7.5 नीति-निर्माण में न्यायपालिका का प्रभाव

नीति का निर्माण या निर्धारण एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है। गतिशीलता एवं लचीलापन दोनों, नीतियों के प्राण तत्व हैं। नीति निर्धारण भी निरन्तर चलने वाला दायित्व है,जिसमें पूरी राजनीतिक व्यवस्था शामिल होती है। नीति-निर्माण के एक जटिल प्रक्रिया होने के कारण शासन या सरकार के सभी अंग इसमें सक्रिय भूमिका निभाते हैं। समय-समय पर न्यायपालिका द्वारा किये गए फैसले नीति-निर्माण में मार्गदर्शक सिद्ध होते हैं। विभिन्न मसलों पर न्यायपालिका का सुझाव भी लोक नीतियों को प्रभावित करते हैं। संवैधानिक नीतियों की व्याख्या करने का अधिकार न्यायपालिका को है तथा उसे अंतिम माना जाता है। न्यायालय किसी नीति का उचित क्रियान्वयन नहीं होने पर क्रियान्वयन के लिए आवश्यक आदेश दे सकता है। वर्तमान युग न्यायिक सक्रियता का युग है,जिसमें नीति-निर्माण एवं क्रियान्वयन में न्यायपालिका की भूमिका में निरन्तर वृद्धि हो रही है।

अक्सर गरीबी, निरक्षरता अथवा सामाजिक एवं आर्थिक विपन्नता के कारण अनेक लोग न्याय के लिए न्यायालयों तक नहीं पहुँच पाते थे। ऐसे लोगों को राहत प्रदान करने के विचार से न्यायालयों ने प्रक्रिया के सामान्य नियमों को शिथिल करके स्वैच्छिक संगठनों या सामाजिक कार्यवाही समूहों या व्यक्तिगत सामाजिक कार्यकर्ताओं को भी इन लोगों की ओर से न्यायालय में गुहार करने और उन्हें राहत दिलाने की अनुमति प्रदान की है। वाद की यह शाखा, जिसे लोक हित वाद कहा जाता है, समाज के दुर्बल असंगिठत, एवं शोषित वर्गों को न्याय दिलाने में विशेष रूप से सहायक सिद्ध हुई है।

कई बार न्यायालय के फैसले के पक्ष में नीतियाँ बनती हैं,तो कई बार न्यायालय के फैसले को निरस्त एवं निष्प्रभावी बनाने के लिए भी नीतियाँ बनती हैं। फैसलों को निरस्त करने के लिए संविधान में संशोधन भी किया जा सकता है। 'शाहबानो मामला' इस तरह के संशोधन का एक महत्वपूर्ण उदाहरण है। हालाँकि संविधान में हुए संशोधन को भी वैध या अवैध करार ठहराने का अंतिम अधिकार सर्वोच्च न्यायालय के पास ही है।

7.6 नीति-निर्माण में न्यायपालिका का महत्व

भारतीय राजव्यवस्था में शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त प्रभावी है,जिसके तहत संविधान में विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के अधिकार-क्षेत्र की लक्ष्मण रेखा साफ-साफ खींच दी गई है। इसके अनुसार कानून बनाना विधायिका का काम है। इसे लागू करना कार्यपालिका का और विधायिका द्वारा बनाए गए कानूनों के संविधान सम्मत होने की जाँच करना न्यायपालिका का काम है। नीति-निर्माण में न्यायपालिका की विशिष्ट महत्व है। संघात्मक शासन व्यवस्था में इसकी भूमिका अति महत्वपूर्ण हो जाती है। कानून की व्याख्या, संविधान की रक्षा, कानून निर्माण, विवादों पर निर्णय, परामर्श एवं प्रशासकीय कार्य इसकी भूमिका को इंगित करते हैं। सर्वोच्च न्यायालय संविधान का रक्षक है और यह सरकार द्वारा या किसी अन्य शक्ति द्वारा संविधान के प्रावधानों के उल्लंघन को रोकता है। भारत में विधायिका या कार्यपालिका केवल उन्हीं विषयों पर क़ानून बना सकती हैंजो कि संविधान द्वारा उन्हें सौंपे गये हैं और यदि वे इसके विपरीत कानून का निर्माण करते हैं, तो न्यायालय ऐसे कानून को असंवैधानिक करार कर उसको लागू किये जाने से रोक सकती है। संविधान में विधायी तथा प्रशासनिक कार्रवाई की न्यायिक समीक्षा करने की शक्ति न्यायपालिका को प्रदान की गई है। संविधान में प्रत्याभूत मूल अधिकारों के प्रवर्तन का कार्य न्यायपालिका को सौंप कर न्यायपालिका को एक गौरवपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है।

इस प्रकार सरकार के अंगों में न्यायपालिका का महत्वपूर्ण स्थान है। लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्थाऐं वास्तव में स्वतंत्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका के भरोसे ही टिकी होती हैं। नागरिकों की स्वतंत्रता की रक्षा करने में एक मात्र संरचना होने के कारण जनसाधारण के लिए इसका महत्व अत्यधिक है। स्पष्ट रूप से न्यायपालिका का महत्व बढ़ जाता है। संघीय व्यवस्था का सफल संचालन न्यायपालिका की कार्य क्षमता पर टिकी है।

7.7 न्यायिक समीक्षा

लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था में शासन व्यक्ति विशेष या व्यक्ति समूह की इच्छाओं के अनुसार नहीं चलकर विधि के अनुसार निष्पादित होती है। विधान मण्डल का गठन मूलतः विधि निर्माण के लिए होता है। परन्तु विधि निर्माण के अतिरिक्त विधान मण्डल के अनेक कार्य हैं तथा इसकी शक्तियां भी व्यापक हैं। परन्तु संविधान के संरक्षक होने के नाते न्यायपालिका का यह कर्तव्य है कि विधान मण्डल का कोई भी कानून देश के मौलिक एवं सर्वोच्च कानून (संविधान) की मूल भावना के विपरीत ना हो। न्यायिक समीक्षा या न्यायिक पुनरावलोकन न्यायालय की वह शक्ति है,जिसके द्वारा न्यायालय कानूनों की संवैधानिकता की जाँच कर सकता है। मैक्रीडिस एवं ब्राउन के अनुसार "न्यायिक पुनरावलोकन का आशय न्यायाधीशों की उस शक्ति से है,जिसके अधीन वे उच्चतर कानून के नाम पर संविधियों तथा आदेशों की व्याख्या कर सकें तथा संविधान के विरुद्ध पाने पर उसे अमान्य ठहरा सकें।" इनसाइक्लोपिडिया ब्रिटानिका ने इसे और स्पष्ट किया है। इसके अनुसार "न्यायिक पुनरावलोकन न्यायालयों की वह शक्ति है,जिसके द्वारा न्यायालय किसी देश की सरकार की विधायी, कार्यकारी और प्रशासकीय अंगों के कार्यों का परीक्षण करता है तथा यह देखता है कि वे संविधान के प्रावधानों के अनुकूल हैं।" एच0 जे0 अब्राहम के शब्दों में "न्यायिक पुनरावलोकन न्यायालय की वह शक्ति है,जो किसी भी कानून या सरकारी कार्य को असंवैधानिक घोषित कर सकती है तथा उसके प्रयोग को रोक सकती है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि न्यायपालिका को विधायिका और कार्यपालिका के कार्यों की जाँच की शक्ति प्राप्त है। यह संविधान का संरक्षक भी है। अमेरिका में सर्वप्रथम 1803 ई0 में मारबरी बनाम मैडिसन

मुकदमें में मुख्य न्यायाधीश मार्शल ने न्यायिक समीक्षा या न्यायिक पुनरावलोकन के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। न्यायाधीश मार्शल के अनुसार न्यायालय कानून की वैधानिकता की जाँच कर सकता है। न्यायिक समीक्षा के लिए कुछ पूर्व शर्ते आवश्यक हैं-

1. लिखित एवं दुष्परिवर्तनशील संविधान।
2. स्वतंत्र एवं सर्वोच्च न्यायपालिका।
3. पृथक निकाय के रूप में न्यायपालिका की स्थापना।
4. न्याय योग्य मौलिक अधिकारों की व्यवस्था तथा सरकार की सत्ता पर युक्तिमूलक सीमाऐं लगाये जाने का प्रावधान।

यह आवश्यक नहीं है कि उपरोक्त शर्तें पूर्णरूपेण विद्यमान हों,किन्तु कम या अधिक मात्र में इनकी व्यवस्था अनिवार्य है। अन्यथा न्यायिक समीक्षा की व्यवस्था सैद्धान्तिक बनकर रह जाएगी।
भारतीय संविधान के अन्तर्गत न्यायिक समीक्षा शब्दावली का प्रयोग कहीं भी नहीं मिलता है,फिर भी अनुच्छेद-13 के प्रावधानों के अनुसार इसका अस्तित्व उजागर होता है। संविधान के भारत में लागू होते ही न्यायिक समीक्षा और संसदीय सम्प्रभुता के विवाद सामने आने शुरू हो गए थे। भिन्न-भिन्न सरकारों में यह संकट चलता रहा, फलस्वरूप मूल अधिकार बनाम राज्य के नीति-निर्देशक तत्व की प्राथमिकता का बिन्दु लगातार सुर्खियों में रहा। भारतीय संविधान में न्यायालयों को न्यायिक समीक्षा का अधिकार इस प्रकार से दिया गया है,जिससे इससे होने वाले लाभों की प्राप्ति हो सके। किन्तु अमेरिका में इसकी व्यवस्था से जो कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं,उससे बचा जा सके। भारत में ‘कानून की उचित प्रक्रिया’ के स्थान पर ‘कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया’ को स्वीकार किया गया है। इससे स्पष्ट है कि भारत के संविधान निर्माता एक ओर तो न्यायालयों को स्पष्ट रूप से न्यायिक समीक्षा का अधिकार प्रदान करते हैं,वहीं दूसरी ओर उनके अधिकार को सीमित रखते हैं,जिससे न्यायलय केवल कानून की शाब्दिक व्याख्या कर सके और कानून की अच्छाई-बुराई के पक्ष में नहीं आ सकें। सम्पत्ति के मूल अधिकार के अर्थ एवं सीमाओं के निर्धारण से शुरू हुआ न्यायपालिका बनाम विधायिका विवाद लगातार राजनीति से प्रभावित होता रहा है। श्रीमती गाँधी के कार्यकाल में 24वां संविधान संशोधन न्यायपालिका के इस अधिकार को न्यून(कम) करने का एक प्रयास था। केशवानन्द भारती मुकदमें एवं मिनर्वा मिल्स मुकदमे में न्यायपालिका ने अपने अधिकार को बनाये रखने का प्रयास किया।

इस सन्दर्भ में सर्वोच्च न्यायालय ने एक महत्वपूर्ण निर्णय में यह कहा है कि संसद और विधानसभा के अध्यक्ष के निर्णय की न्यायिक समीक्षा की जा सकती है। निर्णय में स्पष्ट किया गया कि उच्च न्यायालयों और सर्वोच्च न्यायालय संसद और विधानसभा सदस्यों की अयोग्यता से सम्बन्धित अध्यक्ष के आदेश की न्यायिक समीक्षा कर सकते हैं। सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय में दिए गए कारणों में बताया कि संसद और विधानसभा के अध्यक्ष संविधान की 10वीं अनुसूची में सदस्यों की अयोग्यता के बारे में अर्ध-न्यायिक प्राधिकरण की तरह फैसला करते हैं। ऐसे में उच्च न्यायालय और सर्वोच्च न्यायालय उसके अंतिम आदेश की न्यायिक समीक्षा कर सकते हैं। न्यायाधीशों की राय में कानूनन यह तय है कि अध्यक्ष का अंतिम आदेश संविधान में उच्च न्यायालय और सर्वोच्च न्यायालय को मिले अधिकार पर रोक नहीं लगाता है। उच्च न्यायालयों और सर्वोच्च न्यायालय अनुच्छेद- 32 एवं 136 तथा उच्च न्यायालय अनुच्छेद-226 के तहत अध्यक्ष के आदेश की न्यायिक समीक्षा कर सकते हैं। सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालय को इन अनुच्छेदों में विशेष सन्निहित शक्तियां दी गई हैं। शीर्ष अदालत ने इसके साथ ही कहा है कि उच्च न्यायालय और सर्वोच्च न्यायालय संसद और विधानसभा सदस्यों की

अयोग्यता के बारे में स्पीकर के आदेश की न्यायिक समीक्षा कर सकते हैं। अदालत ने इस आदेश से विधायिका व न्यायपालिका के बीच अधिकारों की नयी बहस छेड़ दी है। सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि लोकसभा अध्यक्ष द्वारा सदन में लिए गए फैसले की न्यायिक समीक्षा नहीं हो सकती। सर्वोच्च न्यायालय के अनुसार ''सभा अध्यक्ष द्वारा सदन के कक्ष में दी गई व्यवस्था न्यायिक समीक्षा के अधीन नहीं होती।''

अभ्यास प्रश्न-

1. कानून के अनुसार न्याय करने का कार्य शासन के किस अंग का है?
2. लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था मूलतः किस पर ही टिकी होती है?
3. भारत की स्वतंत्र न्यायपालिका के शीर्ष पर कौन स्थित है?
4. संविधान का संरक्षक कौन है?
5. किस अमेरिकी न्यायाधीश ने न्यायिक समीक्षा या न्यायिक पुनरावलोकन के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था?

7.8सारांश

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप यह जान चुके होंगे कि नीति निर्माण प्रक्रिया में सरकार के तीनों अंग- कार्यपालिका, व्यवस्थापिका एवं न्यायपालिका किसी ना किसी रूप में सम्बद्ध होते हैं। कार्यों की प्रकृति एवं उत्तरदायित्व की दृष्टि से न्यायपालिका की भूमिका काफी महत्वपूर्ण है।न्यायपालिका के कार्यों में निरन्तर हो रहे परिवर्तन के कारण राजनीतिक व्यवस्था का यह अंग कभी सक्रिय हुआ है। भारत में स्वतंत्र न्यायपालिका की स्थापना भी की गयी है।भारत का संविधान लिखित है,जिसके अनुसार केन्द्र तथा राज्य सरकारों के मध्य शक्तियों का स्पष्ट विभाजन हुआ है। इस विभाजन को स्पष्ट करना स्वाभाविक है, जिसके लिए स्वतंत्र न्यायपालिका की स्थापना करके संविधान की व्याख्या करने का अधिकार उसे दिया गया है। संविधान में केन्द्र तथा राज्यों के मध्य शक्तियों का स्पष्ट विभाजन किया गया है, लेकिन इन दोनों के मध्य विवाद उत्पन्न हो सकते हैं। इन विवादों को न्यायिक ढंग से निबटाने के लिए स्वतंत्र न्यायपालिका की आवश्यकता थी।

7.9 शब्दावली

संविधान- कानूनों का संग्रह एवं देश का सर्वोच्च कानून, न्यायिक प्रक्रिया न्यायालयों की स्थापित व्यवस्था के माध्यम से न्याय प्रशासन की विभिन्न अवस्थाऐं जिनमें शक्ति, अधिनियम और प्रशासनिक नियमों का पालन किया जाता है।

संवैधानिक प्रधान- शासन व्यवस्था में नाम मात्र का प्रधान।

अधिनियम- कानून।

प्रावधान- कानूनी व्यवस्था।

7.10अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.न्यायपालिका का, **2.**निष्पक्ष एवं स्वतंत्र न्यायपालिका पर,**3.** सर्वोच्च न्यायालय,**4.** सर्वोच्च न्यायालय, **5.** न्यायाधीश मार्शल (1803 ई0 में)

7.11सन्दर्भ ग्रन्थसूची

1. दुर्गा दास बसु,2010 ,भारतीय संविधान का परिचय, प्रेन्टिस हॉल, नई दिल्ली।
2. जे0 सी0 जौहरी, 2013, भारतीय शासन एवं राजनीति, विशाल, दिल्ली।
3. अमरजीत सिंह नारंग, 2013, भारतीय शासन एवं राजनीति, गीतांजलि, नई दिल्ली।
4. सुषमा यादव एवं राम अवतार शर्मा, 1997, भारतीय राजनीति ज्वलंत प्रश्न, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय,दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

7.12 सहायक/ उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. श्रीराम माहेश्वरी,2009, भारतीय प्रशासन, ओरिएंट ब्लैकस्वान, नई दिल्ली।
2. सी0 बी0 गेना, 2010, तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाऐं, विकास पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।
3. सुरेन्द्र कटारिया, 2009, प्रशासन एवं लोक नीति, मयूर पेपर बैक्स, नई दिल्ली।

7.13निबन्धात्मक प्रश्न

1. न्यायपालिका से आप क्या समझते हैं? नीति-निर्माण में न्यायपालिका की भूमिका का मूल्यांकन कीजिए।
2. भारत में न्यायपालिका एवं इसके स्वरुप का विश्लेषण कीजिये।
3. न्यायपालिका के कार्यों का वर्णन कीजिए।
4. न्यायिक समीक्षा क्या है? इसकी उपयोगिता पर प्रकाश डालिए।

इकाई- 8 विभिन्न अंगों के बीचअन्त:क्रिया

इकाई की संरचना

8.0 प्रस्तावना
8.1 उद्देश्य
8.2 राजनीतिक एवं स्थायी कार्यपालिका
8.3 संसद एवं स्थायी कार्यपालिका
8.4 संसद एवं राजनीतिक कार्यपालिका
8.5 संसद एवं न्यायपालिका
8.6 कार्यपालिका एवं न्यायपालिका
8.7 सारांश
8.8 शब्दावली
8.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
8.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
8.11सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
8.12निबन्धात्मक प्रश्न

8.0 प्रस्तावना

किसी देश के सामाजिक-आर्थिक रुपान्तरण में लोक नीतियों की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। लोक नीतियों का निर्माण सरकार का एक महत्वपूर्ण कार्य है। नीति-निर्माण के एक जटिल प्रक्रिया होने के कारण इसमें सरकार के विभिन्न अंग एवं अन्य गैर-सरकारी माध्यम सशक्त भूमिका अदा करते हैं। सरकार के तीनों अंग- कार्यपालिका, व्यवस्थापिका एवं न्यायपालिका किसी ना किसी रूप में नीति-निर्माण प्रक्रिया में सम्बद्ध होते हैं। प्रजातंत्र की निरन्तरता के लिए आवश्यक है किराज्य की शक्तियों का विभाजन कार्यपालिका, विधायिका तथा न्यायपालिका के मध्य किया जाए। साथ ही तीनों अंगों का पास्परिक सहयोग एवं समर्थन किसी भी नीति के निर्माण हेतु अत्यावश्यक है। तीनों अंग के कार्यप्रणाली में टकराव की अपेक्षा सहयोग अधिक दिखता है। यदि टकराव की आशंका उत्पन्न होती है,तो उसे भी आसानी से सुलझाने के प्रयास होते हैं। प्रस्तुत इकाई में नीति-निर्माण में शासन के तीनों अंग- कार्यपालिका, विधायिका एवं न्यायपालिका के पास्परिक अंतःक्रिया का विश्लेषण किया गया है।

8.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- राजनीतिक कार्यपालिका एवं स्थायी कार्यपालिका केसम्बन्ध के बारे में जान पाओगे।
- नीति-निर्माण में संसद एवं स्थायी कार्यपालिका की भूमिका के बारे में भी जान सकेंगे, साथ ही इनके अन्तःसम्बन्धों का भी ज्ञान प्राप्त होगा।
- संसद एवं राजनीतिक कार्यपालिका के सम्बन्ध के बारे में भी जानकारी जुटाने में सक्षम होंगे।
- संसद एवं न्यायपालिका के परस्पर सम्बन्ध के बारे में भी ज्ञान प्राप्त होगा।

- कार्यपालिका एवं न्यायपालिका के बीच अंतःक्रिया का भी ज्ञान होगा।

8.2 राजनीतिक एवं स्थायी कार्यपालिका

नीति-निर्माण को लोक प्रशासन का केन्द्रीय तत्व माना गया है। विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका लोकतंत्र के तीन स्तम्भ हैं। इनमेंकार्यपालिका सरकार का वह अंग है,जिसका कार्य विधान मण्डल द्वारा पारित विधेयकों का क्रियान्वयन करना है। किसी भी देश की शासन व्यवस्था उसके राजनीतिक जीवन का अभिन्न अंग होती है। यह राज्य की नीतियों को लागू कर उसके लक्ष्यों को साकार बनाती है तथा उसे सार्थकता प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। राजनीतिक कार्यपालिका प्रत्येक देश के लोक प्रशासन का शीर्षस्थ अभिकरण है। यह प्रशासन के राजनीतिक अध्यक्ष के रूप में समस्त प्रशासन का निर्देशन, पर्यवेक्षण एवं नियन्त्रण करती है। यह सभी प्रशासनिक अभिकरणों को नेतृत्व प्रदान करती है। विविध इकाईयों के मध्य समन्वय भी स्थापित करती है। प्रशासनिक कार्यकुशलता एवं मितव्ययिता इस पर ही निर्भर करती है। कार्यपालिका का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है। व्यापक अर्थ में, कार्यपालिका के अन्तर्गत वे सभी अधिकारी एवं कर्मचारी आते हैं,जिनका सम्बन्ध प्रशासन से होता है। संकुचित अर्थ में, कार्यपालिका के अन्तर्गत वे राजनीतिक अधिकारीगण आते हैं, जिनका सम्बन्ध नीति-निर्माण तथा उसके क्रियान्वयन से होता है। इस सन्दर्भ में व्यापक चर्चा इकाई 5 एवं 6 में की जा चुकी है। भारत में संसदीय शासन व्यवस्था होने के कारण लोक नीति-निर्माण की केन्द्रीय धुरी मंत्रीमण्डल है, जिसका प्रधान प्रधानमंत्री होता है। वस्तुतः प्रधानमंत्री केन्द्रीय कार्यपालिका का वास्तविक प्रधान होता है। राष्ट्रपति मंत्रीमण्डल की सलाह से कार्य करता है तथा उसकी भूमिका नाममात्र के प्रधान की होती है। समय के उभरते प्रतिमानों के फलस्वरूप संसदीय प्रणाली मंत्रीमण्डलीय प्रणाली के बाद अब प्रधानमंत्रीय प्रणाली में परिवर्तित हो चुकी है। वास्तविकताओं के आधार पर ही सर्वप्रथम आइवर जेनिंग्स ने संसदीय प्रणाली को कैबिनेट या मंत्रीमण्डलीय प्रणाली की संज्ञा दी थी। आर0एच0एस0 क्रॉस्मैन ने प्रधानमंत्री पद की महत्ता को देखते हुए संसदीय प्रणाली को प्रधानमंत्रीय प्रणाली कहा।स्पष्ट रूप से जमीनी हकीकत प्रधानमंत्री एवं उसके मंत्रीमण्डल की निर्णायक भूमिका को इंगित करते हैं। आपने पाया होगा कि राजनीतिक कार्यपालिका एवं स्थायी कार्यपालिका का नीति-निर्माण में सम्बन्ध गुणात्मक एवं परिमाणात्मक दोनों है। प्रशासन अनिवार्यतः कार्यपालिका से जुड़ा होता है। अतः कार्यपालिका नीति-निर्माण से सम्बन्धित जो भी काम करती है, उसका आधार अधिकारी- तंत्र ही होता है।

पहले के पुलिस राज्य के स्थान पर कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के उदय, इसके परिणामस्वरूप सरकार की गतिविधियों और दायित्वों में अप्रत्याशित वृद्धि तथा सरकार के कार्यों की तकनीकी प्रकृति ने अधिकारी-तन्त्र अर्थात् नौकरशाही को प्रशासन का भी अपरिहार्य तत्व बना दिया है। एक बार नीतियों का जब निर्माण कार्यपालिका द्वारा हो जाता है,तो उसके बाद यह नौकरशाही की जबाबदेही हो जाती हो जाती है कि उसे वह उसी रूप में क्रियान्वित करे,भले वह उससे सहमत हो या नहीं। नौकरशाही सरकार द्वारा निर्मित कानूनों को लागू करती है और कार्यक्रमों को क्रियान्वित भी करती है। निष्पक्षता एवं सच्चरित्रता के साथ नौकरशाही इन क्रियाकलापों को सम्पादित करती है। लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना के पश्चात इसके कार्यों में अप्रत्याशित वृद्धि हुई है तथा इसकी भूमिका का विस्तार हुआ है। निष्पक्षता की जगह वचनबद्ध नौकरशाही अर्थात् सत्तारूढ़ दल के कार्यक्रमों के प्रति समर्पित नौकरशाही ने जगह बनाई है। इसके साथ ही नौकरशाही की सक्रियता राजनीतिक मामलों में भी बढ़ी है। आज के परिदृश्य में नीति-निर्माण राजनीतिक कार्यपालिका का ही एकमात्र अधिकार-क्षेत्र नहीं रहा। तकनीकी एवं वैज्ञानिक प्रगति के इस काल में स्थायी कार्यपालिका नीतियों के विकल्पों एवं आयामों के चयन में महत्वपूर्ण हो गया है। साथ ही यह राज्य की नीतियों को लागू कर उसके लक्ष्यों को साकार बनाती है और उसे

सार्थकता प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। नीति-निर्माण हेतु राजनीतिक कार्यपालिका बहुत हद तक स्थायी कार्यपालिका पर ही निर्भर होती है। वास्तव में देखा जाए तो मंत्री या मंत्रीमण्डल जिस नीति को प्रस्तावित करता है,उसकी रुपरेखा तो नौकरशाही ही तैयार करती है। सूचना, परामर्श तथा विश्लेषण के माध्यम से यह राजनीतिक कार्यपालिका के साथ नीति-निर्माण में सहायक सिद्ध हुआ है। वस्तुतः स्थाई कार्यपालिका राजनीतिक कार्यपालिका के दोस्त, दार्शनिक एवं मार्गदर्शक की भूमिका निभाती है। लक्ष्य की पूर्ति अथवा उपलब्धियों की दृष्टि से इसको ऐसा संगठन समझा जाता है,जो प्रशासन में कार्यकुशलता को अधिक से अधिक बढ़ाता है अथवा प्रशासनिक कुशलता के हितों में संगठित सामाजिक व्यवहार का एक संस्थागत तरीका है।

विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका लोकतंत्र के तीन स्तम्भ अवश्य हैं, परन्तु इन स्तम्भों की स्थितिनौकरशाही द्वारा सम्पादित क्रियाकलापों पर ही टिकी होती है, जो इसे प्रारम्भिक सूचना, परामर्श एवं विश्लेषण प्रस्तुत करता है।राजनीतिक कार्यपालिका का निर्माण विधायिका से होता है। अतः वह अपने अस्तित्व एवं नीतियों के लिए विधायिका के समर्थन पर टिकी होती है। वहीं दूसरी ओर स्थायी कार्यपालिका राजनीतिक कार्यपालिका के सीधे नियंत्रण में होती है। इस तरह स्थायी कार्यपालिका विधायिका से अप्रत्यक्ष रूप से जुड़ी होती है,जबकि राजनीतिक कार्यपालिका से उसका सम्बन्ध सीधा होता है।

8.3 संसद एवं स्थायी कार्यपालिका

सरकार अनेक किस्म के कार्य सम्पादित करती है और प्रत्येक कार्य के पहले नीतियाँ मार्गदर्शक का काम करती हैं। नीतियों के बिना सरकार नहीं चल सकती और सरकार के बिना लोकतंत्र की धारणा व्यर्थ है। वास्तव में, नीति वह साधन या माध्यम है,जिसके सहारे लक्ष्यों को प्राप्त किया जाता है। संसद राजनीतिक एवं स्थायी कार्यपालिका के साथ मिलकर नीतियों के निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। पीटर एम0 बाल्वो के शब्दों में ''नौकरशाही प्रशासन को अधिक कुशल, विवेकशील, निष्पक्ष तथा तर्क-संगत बनाती है। नौकरशाही के बिना प्रशासन शून्य बन जायेगा।'' मैक्स बेबर के नौकरशाही को आदर्श प्रकार माना है। नौकरशाही सूचनात्मक, सलाहकारी तथा विश्लेष्णात्मक भूमिका के कारण प्रमुख स्थान रखती है। राजनीतिक कार्यपालिका एवं विधायिका नीति-निर्माण में नौकरशाही की राय से भी प्रभावित होती है। नीतियों के निर्माण की सारी शुरुआती सूचना नौकरशाही ही उपलब्ध कराती है।जनता से शुरुआती जानकारी, उनकी स्वीकार्यता आदि पहलुओं की जानकारी नौकरशाही जुटाती है। सलाह प्रदान करना भी नौकरशाही की जिम्मेदारी है।

वहीं दूसरी ओर, संसद का गठन मूलतः विधि निर्माण के लिए होता है। परन्तु विधि निर्माण के अतिरिक्त संसद के अनेक कार्य हैं तथा इसकी शक्तियां भी व्यापक हैं। आधुनिक युग में राज्य का शायद कोई ऐसा क्षेत्र है,जहाँ संसद या विधायिका का प्रभाव या सम्बन्ध नहीं हो। संसद के प्रमुख कार्यों में प्रशासन की देखरेख, बजट पारित करना, लोक शिकायतों की सुनवाई तथा विभिन्न विषयों यथा विकास योजनाओं, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध एवं राष्ट्रीय नीतियों पर चर्चा करना शामिल है। कतिपय परिस्थितियों में संसद अनन्य रूप से राज्यों के लिए आरक्षित इसकी परिधि के अन्तर्गत आने वाले किसी विषय के सम्बन्ध में विधायी शक्ति को अभिग्रहीत कर सकती है। संसद में राष्ट्रपति पर महाभियोग चलाने, उच्चतम एवं उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों, मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक को संविधान में निर्धारित प्रक्रिया विधि के अनुसार महाभियोग द्वारा हटाने की शक्तियां भी विहित हैं। सभी विधानों के लिए संसद के दोनों सदनों की सहमति आवश्यक है। संविधान में संशोधन आरम्भ करने की शक्ति निहित है।

भारतीय संविधान में संसदीय प्रणाली को अपनाया गया है,जिसके अनुसार कार्यपालिका एवं विधायिका एक-दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़े होते हैं। वस्तुतः विधायिका के सदस्य ही कार्यपालिका का निर्माण करते हैं और कार्यपालिका विधायिका के प्रति उत्तरदायी होती है। इन्हीं कारणों से नीति-निर्माण एवं प्रशासन के मध्य एक अटूट रिश्ता हो जाता है। भारतीय संसद का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य देश के लिए कानून का निर्माण है। संसद को संघ-सूची, समवर्ती-सूची तथा विशेष परिस्थितियों में राज्य-सूची के विषयों पर भी कानून बनाने का अधिकार है ।
राजनीतिक कार्यपालिका के अपने कार्यो के लिए संसद के प्रति उत्तरदायी होने के कारण स्थायी कार्यपालिका भी अप्रत्यक्ष रूप से इससे जुड़ जाती है। पूरा मंत्रीपरिषद अपने अस्तित्व के लिए संसद पर आश्रित होता है। प्रत्यायोजित विधायन की उपयोगिता स्थायी कार्यपालिका एवं संसद के आपसी सहयोग को इंगित करता है। समयाभाव, संसद पर बढ़ता दबाब, विषय वस्तु की तकनीकी एवं वैज्ञानिक प्रकृति तथा आकस्मिक स्थितियां प्रत्ययोजित विधायन को आवश्यक बनाती हैं। इसके साथ ही संसद के बदलते परिदृश्य इसे महत्वपूर्ण बना देते हैं ।

8.4 संसद एवं राजनीतिक कार्यपालिका

नीति-निर्माण प्रधानतः संसद का काम है,क्योंकि नीति का आधार एवं प्रारूप संसद द्वारा ही निर्धारित एवं निश्चित होता है। संसद अपने समक्ष प्रस्तुत प्रत्येक नीतिगत प्रस्तावों पर चर्चा एवं विश्लेषण करती है तथा इन्हें अंतिम रूप देती है।कार्यों की प्रकृति एवं सार्वजनिक उत्तरदायित्व के दृष्टिकोण से संसद तीनों अंगों में सर्वोच्च है।विश्व में प्राकृतिक और भौगोलिक विविधता के साथ-साथ राजनैतिक संरचना में भी भिन्नता है। राजतंत्र, तानाशाही सत्ता में केन्द्रीकरण के उदाहरण हैं। जबकि प्रजातंत्र और लोकतंत्र में जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों के माध्यम से शासन किया जाता है।
भारतीय संविधान के अनुच्छेद-79 के अनुसार भारत का राष्ट्रपति संसद का अंग होता है। संसद द्वारा पारित विधेयक तब तक अधिनियम नहीं बनता,जब तक कि राष्ट्रपति उस पर अपनी स्वीकृति नहीं देता है। यद्यपि राष्ट्रपति संसद के किसी सदन का सदस्य नहीं होता, उसे संसद का अधिवेशन बुलाने, स्थगित करने तथा लोक सभा को भंग करने का अधिकार है। इतना ही नहीं, जब संसद के दोनों सदनों का अधिवेशन ना चल रहा हो और राष्ट्रपति को महसूस हो कि इन परिस्थितियों में तुरन्त कार्यवाही जरूरी है,तो वह अध्यादेश जारी कर सकता है। इस अध्यादेश की शक्ति एवं प्रभाव वही होता है,जो संसद द्वारा पास की गई विधि का होता है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति लोकसभा के लिए प्रत्येक आम चुनाव के पश्चात अधिवेशन के शुरू में और हर साल के पहले अधिवेशन के प्रारम्भ में राष्ट्रपति एक साथ संसद के दोनों सदनों के सामने अभिभाषण करता है।
भारतीय राजव्यवस्था में शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त प्रभावी है,जिसके तहत संविधान में विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के अधिकार क्षेत्र की लक्ष्मण रेखा साफ-साफ खींच दी गई है। इसके अनुसार कानून बनाना विधायिका का काम है, इसे लागू करना कार्यपालिका का और विधायिका द्वारा बनाए गए कानूनों के संविधान सम्मत होने की जाँच करना न्यायपालिका काम है। संविधान समय की मांग के मुताबिक बदला जा सके, इसके लिए उसमें संशोधन जैसा बेहद महत्वपूर्ण अधिकार विधायिका के पास है। संसद के कार्यों में विविधता तो है, साथ ही उसके पास काम की अधिकता भी रहती है। चूँकि उसके पास समय बहुत सीमित होता है, इसीलिए उसके समक्ष प्रस्तुत सभी विधायी या अन्य मामलों पर गहन विचार नहीं हो सकता है। अत: इसका बहुत सा कार्य समितियों द्वारा किया जाता है।
संसद का कार्य है- विधान बनाना, नीति निर्धारण करना, शासन पर संसदीय निगरानी रखना तथा वित्तीय नियंत्रण करना। संसद के प्रमुख कार्यों में प्रशासन की देखरेख, बजट पारित करना, लोक शिकायतों की सुनवाई तथा

विभिन्न विषयों यथा विकास योजनाओं, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध एवं राष्ट्रीय नीतियों पर चर्चा करना शामिल है। कतिपय परिस्थितियों में संसद अनन्य रूप से राज्यों के लिए आरक्षित इसकी परिधि के अन्तर्गत आने वाले किसी विषय के सम्बन्ध में विधायी शक्ति को अभिग्रहीत कर सकती है।

जैसा अन्य संसदीय लोकतंत्रों में होता है, भारत की संसद के विधायिका के मौलिक कार्य, प्रशासन की देखभाल, बजट पारित करना, लोक शिकायतों की सुनवाई और विभिन्न मुद्दों पर चर्चा करनी होती है। जैसे विकास योजनाऐं, राष्ट्रीय नीतियां और अन्तर्राष्ट्रीयसम्बन्ध। केन्द्र और राज्यों के बीच अधिकारों का वितरण, जो संविधान में बताए गऐ हैं, अनेक प्रकार से संसद का सामान्य प्रभुत्व विधायी क्षेत्र पर है। विषयों की एक बड़ी श्रृंखला के अलावा, सामान्य समय में भी संसद कुछ विशिष्ट परिस्थितियों के तहत उस कार्यक्षेत्र के अन्दर आने वाले विषयों के सन्दर्भ में विधायी अधिकार ले सकती है, जो विशिष्ट रूप से राज्यों के लिए आरक्षित हैं। सभी कानूनों को संसद के दोनों सदनों की स्वीकृति आवश्यक है। वित्त विधेयकों के सन्दर्भ मेंयद्यपिलोकसभा की इच्छा मानी जाती है। प्रदत्त विधायन की भी समीक्षा की जाती है और यह संसद के द्वारा नियंत्रित है।

संसद का एक महत्वपूर्ण कार्य मंत्रीपरिषद पर नियंत्रण रखना है। संसद मंत्रियों से प्रश्न पूछकर, पूरक प्रश्न पूछकर, वाद-विवाद करके, कटौती प्रस्ताव, काम-रोको, निंदा और अविश्वास प्रस्ताव रखकर तथा सरकार की नीतियों की आलोचना आदि विभिन्न साधनों का प्रयोग कर मंत्रीपरिषद पर नियंत्रण स्थापित करती है,जिससे मंत्रीपरिषद संसद के प्रति उत्तरदायी बनी रहती है। इन सबके अतिरिक्त संसद को मंत्रिपरिषद के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव लाकर उसे पदच्युत करने का अधिकार प्राप्त है। इस प्रकार संसद संघ की वास्तविक अर्थात राजनीतिक कार्यपालिका पर प्रभावशाली ढंग से नियंत्रण रखती है।

दूसरी ओर राजनीतिक कार्यपालिका का कार्य है- विधायिका द्वारा बनायी गयी विधियों और नीतियों को लागू करना एवं शासन चलाना। राजनीतिक कार्यपालिका सरकार का वह अंग है, जिसका कार्य विधान मण्डल द्वारा पारित विधेयकों का क्रियान्वयन करना है।

8.5 संसद एवं न्यायपालिका

स्वतंत्रता के पश्चात संविधान के लागू होते ही भारत में न्याय प्रशासन का एक नया दायित्व सामने आया। राज्य का एक महत्वपूर्ण कार्य समाज में न्याय की स्थापना माना जाने लगा। यदि कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति के साथ अत्याचार करता है,तो इसका अभिप्राय यह है कि वह सम्पूर्ण समाज के साथ द्रोह करता है तथा सम्पूर्ण समाज की भलाई के विचार से यह आवश्यक है कि उस व्यक्ति को राज्य की ओर से दंड मिले। इन्हीं परिकल्पनाओं के आधार पर भारत में न्यायिक तंत्र स्थापित किया गया।

भारतीय राजव्यवस्था में शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त लागू है,जिसके तहत संविधान में विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के अधिकार-क्षेत्र की लक्ष्मण रेखा साफ-साफ खींच दी गई है। इसके अनुसार कानून बनाना विधायिका का काम है, इसे लागू करना कार्यपालिका का और विधायिका द्वारा बनाए गए कानूनों के संविधान सम्मत होने की जाँच करना न्यायपालिका काम है। नीति-निर्माण में न्यायपालिका की विशिष्ट महत्व है। संघात्मक शासन व्यवस्था में इसकी भूमिका अति महत्वपूर्ण हो जाती है। कानून की व्याख्या, संविधान की रक्षा, कानून निर्माण, विवादों पर निर्णय, परामर्श एवं प्रशासकीय कार्य इसकी भूमिका को इंगित करते हैं। सर्वोच्च न्यायालय संविधान का रक्षक है और यह सरकार द्वारा या किसी अन्य शक्ति द्वारा संविधान के प्रावधानों के उल्लंघन को रोकता है। भारत में विधायिका या कार्यपालिका केवल उन्हीं विषयों पर कानून बना सकती है, जोकि संविधान द्वारा उन्हें सौंपे गये हैं और यदि वे इसके विपरीत कानून का निर्माण करते हैं,तो न्यायालय ऐसे कानून को

असंवैधानिक करार कर उसको लागू किये जाने से रोक सकती है।संविधान समय की मांग के मुताबिक बदला जा सके, इसके लिए उसमें संशोधन जैसा बेहद महत्वपूर्ण अधिकार विधायिका के पास है। छह दशकों से विभिन्न रुपों में चल रहे टकराव के मूल में यही वह अधिकार है,जिसे विधायिका संसद की सर्वोच्चता का आधार मानने की गाहे-बगाहे भूल कर बैठती है। न्यायपालिका तभी से विधायिका को उसकी इस भूल का अहसास मात्र करा रही है। केशवानंद भारती मामले में सन्1972 में सुप्रीम कोर्ट की 13 जजों की अब तक की सबसे बड़ी संविधान पीठ ने अपने फैसले में स्पष्ट कर दिया था कि भारत में संसद नहीं बल्कि संविधान सर्वोच्च है। अदालत ने टकराव की स्थिति को खत्म करने के लिए संविधान के मौलिक ढ़ाँचे का सिद्धान्त भी पारित किया। इसमें कहा गया कि संसद ऐसा कोई संशोधन नहीं कर सकती है,जो संविधान के मौलिक ढ़ाँचे को प्रतिकूलतः प्रभावित करता हो। साथ ही न्यायिक पुनरावलोकन के अधिकार के तहत न्यायपालिका संसद द्वारा किए गए संशोधन से संविधान का मूल ढ़ाँचा प्रभावित होने की जाँच करने के लिए स्वतंत्र है। संविधान की सर्वोच्चता, सरकार की गणतन्त्रीय व्यवस्था, राष्ट्र की सम्प्रभुता, संविधान का संघीय तथा पन्थ निरपेक्ष स्वरूप, कार्यपालिका, विधायिका तथा न्यायपालिका के बीच शक्तियों का बंटवारा, मूलभूत अधिकारों से मानवीय गरिमा की सुरक्षा, भाग- 4 में वर्णित लोक कल्याणकारी राज्य बनाने का संकल्प तथा भारत की एकता व अखण्डता संविधान के मूल ढ़ाँचे के कुछ उदाहरण हैं।संविधान के मूल ढ़ाँचे के सिद्धान्त का जन्म उस समय हुआ था जब न्यायालय और सरकार में इस मुद्दे पर मतभेद अपने चरम पर थे कि जमीन्दारी उन्मूलन, बैंकों के राष्ट्रीयकरण और प्रिवीपर्स की समाप्ति जैसे नीतिगत मुद्दों पर अन्तिम निर्णय लेने का अधिकार अपनी सभी तथाकथित कमियों के बावजूद हमारे चुने गए प्रतिनिधियों के हाथ में हो जो जनता के प्रति जवाबदेह हैं या न्यायाधीशों के हाथ में हो जो अपनी विद्वता के बावजूद या तो केवल ईश्वर के प्रति या अपनी अन्तरात्मा के प्रति जवाबदेह हैं। इस रस्साकशी के पहले भाग का पटाक्षेप तब हुआ जब 'केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य' के मुकदमे का फैसला आया। सुप्रीम कोर्ट ने इसमें अपनी मंशा स्पष्ट कर दी कि संसद में बहुमत का सहारा लेकर सरकार अपनी मनमानी नीतियों को लागू नहीं कर सकती। वह संविधान में संशोधन करते समय उसके मूल ढ़ाँचे को नष्ट नहीं कर सकती। 13 न्यायाधीशों वाली पीठ ने यह स्वीकार किया कि यद्यपि संविधान में इस प्रकार का कोई प्रतिबंध नहीं लगाया गया है। किन्तु फिर भी इस अधिकार पर कुछ अन्तर्निहित प्रतिबंध अवश्य होने चाहिए और इस प्रतिबंध के लिए संविधान के मूल ढ़ाँचे की सुरक्षा जैसे शब्द का निर्माण किया गया। जब इस मूल ढ़ाँचे को परिभाषित करने का विषय आया तो इस सिद्धान्त की अस्पष्टता और अन्तर्निहित दुरूहता स्पष्ट होने लगी। बाद के वर्षों में दिए गए निर्णयों में जहाँ एक ओर यह अबोधगम्य होता गया,वहीं दूसरी ओर इसकी धार पैनी हो गई। बाद में आपातकाल ने राजनीतिज्ञों के मन में इतना अपराध बोध भर दिया कि न्यायपालिका के इस सिद्धान्त के गुण-दोष पर चर्चा करने की नैतिक हिम्मत भी समाप्त हो गई।बाद के फैसलों में मूलभूत ढ़ाँचे के उदाहरणों में कुछ और वृद्धि हुई।

संविधान के संरक्षक होने के नाते न्यायपालिका का यह कर्तव्य है कि विधान मण्डल का कोई भी कानून देश के मौलिक एवं सर्वोच्च कानून संविधान की मूल भावना के विपरीत ना हो। न्यायिक समीक्षा या न्यायिक पुनरावलोकन न्यायालय की वह शक्ति है,जिसके द्वारा न्यायालय कानूनों की संवैधानिकता की जाँच कर सकता है। संविधान के भारत में लागू होते ही न्यायिक समीक्षा और संसदीय सम्प्रभुता के विवाद सामने आने शुरू हो गए थे। भिन्न-भिन्न सरकारों में यह संकट चलता रहा। फलस्वरूप मूल अधिकार बनाम राज्य के नीति-निर्देशक तत्व की प्राथमिकता का बिन्दु लगातार सुर्खियों में रहा। भारतीय संविधान में न्यायालयों को न्यायिक समीक्षा का अधिकार इस प्रकार से दिया गया है,जिससे इससे होने वाले लाभों की प्राप्ति हो सके। किन्तु अमेरिका में इसकी व्यवस्था से जो कठिनाइयां उत्पन्न होती है,उससे बचा जा सके। भारत में 'कानून की उचित प्रक्रिया' के स्थान पर 'कानून द्वारा

स्थापित प्रक्रिया' को स्वीकार किया गया है। इससे स्पष्ट है कि भारत के संविधान निर्माता एक ओर तो न्यायालयों को स्पष्ट रूप से न्यायिक समीक्षा का अधिकार प्रदान करते हैं, वहीं दूसरी ओर उनके अधिकार को सीमित रखते हैं,जिससे न्यायालय केवल कानून की शाब्दिक व्याख्या कर सके और कानून की अच्छाई- बुराई के पक्ष में नहीं आ सकें।

8.6 कार्यपालिका एवं न्यायपालिका

विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका लोकतंत्र के तीन स्तंभ अवश्य हैं, परन्तु इन स्तम्भों की स्थिति और स्वरूप एक समान नहीं है। तीनों का स्थान समानान्तर धरातल पर नहीं है। न्यायपालिका का स्थान विधायिका और कार्यपालिका से एकदम अलग है। लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्थाऐं वास्तव में स्वतंत्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका के भरोसे ही टिकी होती हैं। नागरिकों की स्वतंत्रता की रक्षा करने में एक मात्र संरचना होने के कारण जनसाधारण के लिए इसका महत्व अत्यधिक है। स्पष्ट रूप से न्यायपालिका का महत्व बढ़ जाता है। संघीय व्यवस्था का सफल संचालन न्यायपालिका की कार्य क्षमता पर टिकी है। न्यायपालिका का काम विधायिका और कार्यपालिका के कार्यों की न्यायिक समीक्षा कर सही और गलत को स्पष्ट करना है। प्रश्न यह उठता है कि जब न्यायपालिका का काम ही समीक्षा करना है, तब उनमें सहयोग कैसे होगा? सहयोग होने पर न्यायपालिका निष्पक्ष समीक्षा कैसे करेगी?

कार्यपालिका के कार्यों में संसदीय प्रजातंत्र के कारण अभूतपूर्व वृद्धि हुई है,वहीं हाल के वर्षों के विकास इसके कार्यों को बढा ही रहे हैं। संविधान के अनुच्छेद- 122 में प्रावधान है कि संसद अपने कार्य के लिए स्वतंत्र है तथा न्यायालय उसमें दखल नहीं दे सकता, परन्तु यह कौन देखेगा कि सांसद तथा संसद संवैधानिक मर्यादाओं का पालन करते हुए अपने अधिकार का उपयोग कर रहे हैं या नहीं। यह अधिकार न्यायपालिका के ही पास है। संविधान के अनुच्छेद- 132 के अनुसार संवैधानिक प्रावधानों की व्याख्या का अधिकार मात्र उच्चतम न्यायालय को ही है। उच्चतम न्यायालय संवैधानिक प्रावधानों के सही या गलत के परिपालन की व्याख्या करता है। प्रशासकीय न्यायाधिकरण की स्थापना ने कार्यपालिका एवं न्यायपालिका के संबंधों को नया आयाम दिया है। इसके अतिरिक्त संवैधानिक प्रावधानों से स्पष्ट है कि कार्यपालिका तथा न्यायपालिका दोनों की स्थिति समान धरातल पर नहीं है। संवैधानिक कार्य तथा उत्तरदायित्व की व्याख्या का अधिकार मात्र न्यायपालिका को है, संसद को नहीं। अपने संवैधानिक उत्तरदायित्व के निर्वाह में न्यायालय यदि सांसद एवं संसद के नैतिकताविहीन निर्णय पर अंकुश लगाता है तो वह टकराव नहीं, वरन् समाज की विधि एवं नैतिक व्यवस्थापन की दिशा में एक प्रशंसनीय कदम है। नैतिक मापदण्डों के अनुरूप विधिसम्मत व्यवस्था बनाए रखने का उत्तरदायित्व न्यायालय का है।

अभ्यास प्रश्न-

1. प्रशासन अनिवार्यतः शासन के किस अंग से जुड़ा होता है?
2. संविधान का संरक्षक कौन है?
3. संसद के किस सदन के प्रति मंत्रीपरिषद उत्तरदायी होती है?
4. मंत्रिपरिषद का अध्यक्ष कौन होता है?
5. लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था मूलतः किस पर ही टिकी होती है?

8.7 सारांश

इस प्रकार आपको ज्ञात हो गया होगा कि लोकतंत्र एक ऐसी व्यवस्था है जो न्यायपालिका, विधायिका और कार्यपालिका के समन्वय से चलती है। तीनों का समन्वय इसकी अनिवार्य शर्त है। लोकतंत्र में अव्यवस्था के खतरे बहुत अधिक होते हैं। फिर भी विश्व जनमत तानाशाही से मुक्त होने के लिये छटपटा रहा है। साम्यवादी देशों ने लोकतंत्र का मार्ग पकड़ लिया है। लोकतंत्र का पहला पाठ ही व्यवस्था के तीन अंगों- न्यायपालिका, विधायिका तथा कार्यपालिका के समन्वय से शुरू होता है। हाँ कभी-कभी यह समन्वय प्रतिस्पर्धा में बदल जाता है। इस प्रतिस्पर्धा की बीमारी से बचने के लिये आवश्यकता है कि तीनों अंग अपने-अपने दायित्व भी समझते हैं और सीमाऐं भी। कानूनों में सुधार विधायिका का काम है और उसके कार्यान्वयन का कार्य कार्यपालिका का। लोकतंत्र में तीनोंसंस्थाऐं एक-दूसरे की पूरक भी होती हैं और नियंत्रक भी। लोकतंत्र का एक ही अर्थ है कि समाज सर्वोच्च है और राज्य समाज का व्यवस्थापक। लोकतंत्र में कोई इकाई अन्तिम ना होकर उसकी सीमित भूमिका होनी चाहिये।

8.8 शब्दावली

मंत्रिपरिषद- नीति-निर्माण हेतु सर्वोच्च संस्था जिसका प्रधान प्रधानमंत्री /मुख्यमंत्री होता है।
अविश्वास प्रस्ताव- सरकार की नीतियों के विरुद्ध विपक्ष द्वारा लाया गया प्रस्ताव।
संवैधानिक प्रधान- शासन व्यवस्था में नाम मात्र का प्रधान।
न्यायिक समीक्षा- विधायिका एवं कार्यपालिका के आदेशों, कानूनों आदि की न्यायपालिका द्वारा वैधानिकता की जाँच।

8.9अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.कार्यपालिका से,**2.** सर्वोच्च न्यायालय,**3.** लोकसभा,**4.** प्रधानमन्त्री, **5.**निष्पक्ष एवं स्वतंत्र न्यायपालिका पर

8.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. दुर्गा दास बसु, 2010 ,भारतीय संविधान का परिचय, प्रेन्टिस हॉल, नई दिल्ली।
2. जे0सी0 जौहरी, 2013,भारतीय शासन एवं राजनीति, विशाल, दिल्ली।
3. अमरजीत सिंह नारंग, 2013, भारतीय शासन एवं राजनीति, गीतांजलि, नई दिल्ली।

8.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. श्रीराम माहेश्वरी,2009, भारतीय प्रशासन, ओरिएंट ब्लैकस्वान, नई दिल्ली।
2. सी0बी0गेना, 2010, तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाऐं, विकास पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।
3. सुषमा यादव एवं राम अवतार शर्मा, 1997, भारतीय राजनीति ज्वलंतप्रश्न, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय,दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

8.12निबन्धात्मक प्रश्न

1. संसद एवं स्थायी कार्यपालिका के सम्बन्धों पर प्रकाश डालिए।

2. संसद एवं राजनीतिक कार्यपालिका के पारस्परिक सम्बन्धों का विश्लेषण कीजिये।
3. संसद एवं न्यायपालिका के सम्बन्धों का मूल्यांकन कीजिए।
4. कार्यपालिका एवं न्यायपालिका के पारस्परिक सम्बन्धों का विश्लेषणकीजिये।
5. शासन के विविध अंगों की पारस्परिक अंतःक्रिया की उपयोगिता पर प्रकाश डालिए।

इकाई- 9 भारत में नीति-निर्माण प्रक्रिया

इकाई की संरचना

9.0 प्रस्तावना
9.1 उद्देश्य
9.2 बंधुआ मजदूरी का अर्थ
9.3 भारतमें बंधुआ मजदूरीप्रथा
9.4 स्वतन्त्रता से पूर्व बंधुआ मजदूरीप्रथा के उन्मूलन के प्रयास
9.5स्वतन्त्रता के पश्चात बंधुआ मजदूरीप्रथा के उन्मूलन के प्रमुख कदम
9.6 बंधुआ मजदूरीप्रथा उन्मूलन अधिनियम- सन्1976
9.7बंधुआ मजदूरीप्रथा उन्मूलन अधिनियम- सन्1976 के प्रावधान एवं क्रियान्वयन
9.8 सारांश
9.9शब्दावली
9.10अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
9.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
9.12सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
9.13 निबन्धात्मक प्रश्न

9.0 प्रस्तावना

भारत में बढ़ती जनसंख्या के बाद दूसरी सबसे बड़ी समस्या बंधुआ मजदूरी की है। ये ऐसे बंधुआ मजदूर हैं,जो अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं के लिए गुलामी के जाल में बुरी तरह फंस जाते हैं और इसे अपनी नियति मान लेते हैं। ये गरीब, कमजोर और लाचार बंधुआ लोग जमीदारों और साहूकारों के हाथों सालों-साल शोषण का शिकार होते रहते हैं। सरकार ने भी स्वीकार किया है कि देश में बंधुआ मजदूरी सिर्फ कागजों पर ही समाप्त हुई है,जबकि सच्चाई यह है कि यह सामाजिक समस्या व्यापक पैमाने पर मौजूद है।इस समस्या से निपटने के लिए वर्ष 1976में एक कानून बनाया गया,जिसके बाद पूरे देश में बंधुआ मजदूरी प्रथा को पूरी तरह से समाप्त करने के ठोस कदम उठाए गए। इस कानून के बाद बंधुआ मजदूरी को एक दण्डनीय अपराध माना जाने लगा है। अधिनियम के लागू होने पर प्रत्येक श्रमिक को जबरन श्रम करने की बाध्यता से मुक्त कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त यह कानून उन सभी बातों को अमान्य साबित करता है,जिनके अनुसार किसी व्यक्ति को बंधुआ श्रम के रूप में अपनी सेवाऐं देने के लिए बाध्य किया जा रहा हो। प्रस्तुत इकाई में बंधुआ मजदूरी के अर्थ एवं विविध पहलुओंका विश्लेषण किया गया है। इसके अतिरिक्त इस इकाई में आप स्वतन्त्रता से पूर्व एवं स्वतन्त्रता के बाद बंधुआ मजदूरीप्रथा के उन्मूलन सम्बन्धी प्रयासों के बारे में भी जान सकेंगे। साथ ही बंधुआ मजदूरीप्रथा उन्मूलन अधिनियम-सन्1976 के प्रावधान एवं क्रियान्वयन पर भी विस्तार से चर्चा होगी।

9.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- बंधुआ मजदूरी का अर्थ जान सकेंगे।

- आप बंधुआ मजदूरी के विविध स्वरुप को भी समझ पाऐंगे।
- स्वतन्त्रता से पूर्व एवं स्वतन्त्रता के पश्चात बंधुआ मजदूरीप्रथा के उन्मूलन के प्रमुख कदमों के बारे में आपको ज्ञान प्राप्त होगा।
- बंधुआ मजदूरीप्रथा उन्मूलन अधिनियम- सन्1976 के प्रमुख प्रावधान एवं क्रियान्वयन का भी ज्ञान होगा।

9.2 बंधुआ मजदूरी का अर्थ

दुनिया भर में आज भी लगभग तीन करोड़ लोग गुलामी की जिन्दगी जीने के लिए मजबूर हैं और इनमें से लगभग आधे भारतीय हैं। विश्व दासता सूचकांक- 2013 के आंकड़ों के अनुसार,दुनिया भर के जिन 162 देशों में सर्वेक्षण किया गया, वहाँ तकरीबन 2 करोड़ 98 लाख लोग दासता की जिंदगी जीने के लिए मजबूर हैं।इनमें से 1 करोड़ 39 लाख लोग भारत में हैं। सर्वेक्षण के लिए दासता की जिस परिभाषा का इस्तेमाल किया गया है,उसके मुताबिक 'किसी की आजादी छीन लेना और हिंसा, दबाव या छल के जरिये उसका आर्थिक या यौन शोषण करना उसे दास बनाना है।' एक ओर जहाँ पश्चिम अफ्रीका और दक्षिण एशिया में आज भी कुछ लोग पैदा होते ही गुलाम बन जाते हैं,वहीं भारत समेत अन्य गरीब देशों में बंधुआ मजदूरी, बाल मजदूरी, देह व्यापार और जबरन विवाह के द्वारा गुलामी कराई जाती है।

वह व्यक्ति जो लिए हुए ऋण को चुकाने के बदले ऋणदाता के लिए श्रम करता है या सेवाऐं देता है, बंधुआ मजदूर कहलाता है। इन्हें 'अनुबद्ध श्रमिक' या 'बंधक मज़दूर' भी कहते हैं। कृषि क्षेत्र में भूमिहीन कृषकों की अपने श्रम के आदान-प्रदान में सौदेबाजी की शून्यता बंधुआ मजदूरी की ओर इंगित करता है। ऐसी स्थिति अधिकांश मामलों में ऋणग्रस्तता के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। यह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक भी चलती रहती है। बलात् श्रम का यह भी अर्थ है,'लम्बे घंटों तक खराब स्थितियों में बहुत कम वेतन पर काम करना।'यह कृषि, निर्माण क्षेत्र, घरेलू काम, ईंट-भट्ठे एवं यौन व्यापार, सभी क्षेत्रों में और हर महाद्वीप, हर अर्थव्यवस्था तथा लगभग हर देश में पाया जाता है। इसके बावजूद यह विरोधाभास ही है कि इसे हमारे समय की सबसे अप्रकट समस्याओं में से एकबताया जाता है। लेकिन इससे अलग दो परिस्थितियां जरूर लागू होती हैं,यह काम बिना इच्छा के कराया जाता है और उसे दण्ड दिए जाने की धमकी के साथ कराया जाता है। कई बार यह धमकी शारीरिक दंड अर्थात् मारपीट, यातना एवं यौन प्रताड़ना की आशंका के रूप में होती है। इन मजदूरों के जीवनयापन के वस्तुओं की खरीददारी के कारण ये कर्ज लगातार बढ़ते जाते हैं और कई बार नियोक्ता भी अपने बही-खाते में इन्हें बढ़ा-चढ़ा कर दर्ज करते रहते हैं। इसके बाद इन मजदूरों को बंधुआगिरी करनी पड़ती है। जो मजदूर इस काम को छोड़ना चाहते हैं, अक्सर उन्हें धमकियों व शारीरिक हिंसा का शिकार होना पड़ता है। बलात् श्रम सभी जगह है।

यदि हम बंधुआ मजदूरी का इतिहास खंगालें तो प्राचीन यूनान में बंधुआ मजदूरी बहुत हद तक प्रचलित थी। वर्तमान समय में बंधुआ मजदूरी सबसे अधिक दक्षिण एशिया में होती है। एशिया में बलात् श्रमिकों का लगभग 10 प्रतिशत व्यावसायिक यौन शोषण के लिए प्रयुक्त होता है। मानव तस्करी बलात् श्रम से जुड़ा शायद सबसे सनसनीखेज पहलू है, जिसके तहत आर्थिक शोषण के लिए लोगों को भर्ती की जाती है और लोगों को एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाया जाता है, जिसमे पर्याप्त भिन्नता होती है। संक्षेप में, आंकड़े बताते हैं कि तस्करी से लाये गये अधिकतर लोग संक्रमणकालीन तथा विकसित देशों अथवा क्षेत्रों में काम करने को विवश होते हैं। इनमें से लगभग आधे लोगों को यौन शोषण के लिए तस्करी की जाती है। इस तरह का शोषण केवल विकासशील देशों या

परम्परागत व्यवस्थाओं तक सीमित नहीं है। दिवालियेपन के ऐसे नए रूपों को औद्योगिकृत देशों व आमतौर पर मुख्यधारा के आर्थिक क्षेत्रों में भी देखा जा सकता है। भर्ती एजेंसियों द्वारा बेईमान तौर-तरीकों और बहुत ठेकेदारों के कारण भी ऐसे मूल्य चुकाने पड़ते हैं, जिनके परिणामस्वरूप प्रवासी लोग ऋण बंधुआ बना दिये जाते हैं।

बंधुआ मजदूरी को समाप्त करने के उद्देश्य से भारत में सन्1976 में कानून बनाकर बंधुआ मजदूरी को अवैध घोषित किया गया। इस कानून के बाद बंधुआ मजदूरी को एक दण्डनीय अपराध माना जाने लगा। इस अधिनियम के लागू होने पर प्रत्येक श्रमिक को जबरन श्रम करने की बाध्यता से मुक्त कर दिया गया है। इस अधिनियम को सभी राज्यों में भी लागू गया है।

9.3 भारत में बंधुआ मजदूरीप्रथा

बंधुआ मजदूरीप्रथा आज विश्व के तमाम स्थानों में किसी ना किसी रूप में मौजूद है। भारत में ताजा आंकड़ों के अनुसार सरकारी माध्यमों ने 2,82,135बंधुआ मजदूरों की पहचान मुक्त की है, इसके साथ ही2,60,714 बंधुआ मजदूरों का पुनर्वास भी कराया गया है। लगभग इतने ही या इससे भी ज्यादा बंधुआ मजदूर आज भी देश के विभिन्न हिस्सों में गुलामों की तरह काम कर रहे हैं। बंधुआ मजदूरों की सबसे ज्यादा तादाद भारत के कृषि क्षेत्र में दिखती है। इनमें से ज्यादातर तथाकथित निचली जातियों से ताल्लुक रखते हैं। सुप्रीम कोर्ट में प्रस्तुत एक रिपोर्ट के अनुसार महाराष्ट्र में इनकी संख्या 6 लाख से ज्यादा है, जिनमें तथाकथित निचली जाति में इनकी संख्या 70 प्रतिशत के आसपास है। अधिकांश150 चीनी मिलों में बंधुआ मजदूरों की तरह काम कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त उड़ीसा, छत्तीसगढ़, हरियाणा, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, उत्तरांचल, आंध्र प्रदेश, महाराष्ट्र, राजस्थान और गुजरात जैसे प्रदेशों में भी अनुसूचित जनजाति के ढेरों लोग कर्ज ना चुका पाने के कारण बंधुआ मजदूरों की तरह काम कर रहे हैं।

दरअसल, अंग्रेजी शासनकाल में लागू की गई भूमि बंदोबस्त प्रथा ने भारत में बंधुआ मजदूरी के लिए आधार प्रदान किया था। इससे पूर्व जमीन को जोतने वाला ही जमीन का मालिक भी होता था। जमीन के स्वामित्व पर राजाओं या जागीरदारों का कोई दावा नहीं था। उन्हें वही प्राप्त होता था, जो उनका वास्तविक हक़ बनता था और यह कुल उपज का एक फीसदी होता था। किसान ही जमीन के स्वामी थे। हालांकि जमीन का असली स्वामी राजा थाफिर भी एक बार जोतने के लिए तैयार कर लेने के बाद स्वामित्व किसान के हाथ में चला जाता था। राज्य याराजा के परिवर्तन के बाद भीस्वामित्व सम्बन्धी विवाद नहीं होता था। राजा और किसान के बीच कोई बिचौलिया भी नहीं था। लेकिन वक्त के साथ इसमें बदलाव आता गया और भूमि के मालिक का दर्जा रखने वाला किसान महज खेतिहर मजदूर बनकर रह गया। अनन्तर आजीविका के अन्य विकल्पों की समाप्ति के साथ ये स्थितियां भयावह होती चली गयी।

अनुसुचित जाति एवं अनुसुचित जनजाति आयुक्त की रिपोर्ट(वर्ष 1971-72) ने ऋण ग्रस्तता के फलस्वरूप उत्पन्न बंधुआ मजदूरी के विविध पहलुओं पर प्रकाश डाला है। बंधुआ मजदूर की परिधि में भूमिहीन किसान, बिना सुरक्षा के ऋण लेने वाले लोग तथा ऋण की अलग-अलग प्रकृति के कारण शामिल लोग हैं। सामान्य तौर पर बंधुआ मजदूरी के प्रारम्भिक कारकों में जाति व्यवस्था, सामाजिक एवं धार्मिक अनुष्ठानों पर सामर्थ्य से ज्यादा खर्च, गरीबी तथा जमीन का गिरवी (Pledge) रखा जाना है।आजीविका की तलाश में किसी मजदूर को अपना गाँवघर छोड़कर दूसरी जगह जाना पड़ता है,क्योंकि उसके अपने इलाके में आजीविका के पर्याप्त साधन उपलब्ध नहीं होते हैं। कहीं सूखा, कहीं बाढ़ और तो किसी के पास खेती के लिए अनुपयुक्त या नाकाफी जमीन, ऐसे मेंवे लोगजो बस खेतिहर मजदूर हैं,अपने इलाकों में खेती की खराब स्थिति के कारण एक तो मजदूरी बहुत कम पाते हैं

और दूसरे समाज में विद्यमान सामंती मूल्यों के अवशेष भी उन्हें लगातार दबाते चले जाते हैं। बेहतर जीवन की लालसा में वे पलायन को मजबूर हो जाते हैं।

बंधुआ मजदूरी का नया स्वरूप जो सामने आया है, उसमें मजदूरों का सबसे बड़ा हिस्सा पलायन किये हुये मजदूरों का है। मजदूरों को नियुक्त करवाने वाले दलाल शुरुआत में ही थोड़े से रुपये बतौर पेशगी देकर लोगों को कानूनन अपना कर्जदार बना देते हैं। रुपयों के जाल में फंसकर मजदूर अपने नियोक्ता या इन दलालों का बंधुआ बन कर रह जाता है। अधिकतर मामलों में, ये दलाल सम्बन्धित उद्योगों के नजर में मजदूरों के ठेकेदार होते हैं,जो मजदूरों के श्रम के मूल्यों के भुगतान में तरह-तरह की धांधलियाँ करते हैं। नियोक्ता और श्रमिक के बीच में दलालों की इतनी महत्वपूर्ण उपस्थिति मजदूरों के शोषण को और गम्भीर बना देती है।

यहाँ तक कि कई बार मां-बाप द्वारा लिए गये कर्ज को ना चूका पाने के चलते उनके बच्चों से महज भोजन के एवज में बंधुआ मजदूर के तौर पर काम कराया जाता है। इस बारे में एक ही तरह का चलन हर जगह दिखता है। ईंट-भट्ठों, पत्थर खदानों, क्रशरों, खानों, बिजली से चलने वाले करघों या हथकरघों अथवा निर्माण का काम, हीरे-जवाहरात की तराशी, चावल मिलों, बीड़ी कारखानों, चटाई हो या रेशमी कालीन की बुनाई, ढेरों औद्योगिक इकाइयों और तमाम क्षेत्रों में बंधुआ मजदूरों की लम्बी फौज काम कर रही है। बंधुआ मजदूरों का यह चलन किसी एक देश की सीमा में नहीं बंधा है। खाड़ी देशों में हजारों भारतीय और दक्षिण पूर्व एशियाई लोग नौकरों के रूप में बंधुआ मजदूरों की तरह ही काम कर रहे हैं। काम पर रखने वाले लोग या दलाल इनके सभी महत्वपूर्ण दस्तावेजों जैसे पासपोर्ट, वीजा आदि को या तो अपने कब्जे में रख लेते हैं या नष्ट कर देते हैं। इस तरह लाखों लोगों को कभी रोजगार के नाम पर तो कभी कर्ज के नाम पर धोखा देकर उम्रभर के लिए बंधुआ मजदूर बनने के लिए मजबूर किया जाता है।

बंधुआ मजदूरी का तीसरा और सबसे महत्वपूर्ण कारण स्थायी नौकरी के बदले दलालों के मध्यस्थता में मजदूरों के श्रम का शोषण करने की रणनीति अन्तर्निहित है। भूमिहीन कृषकों की अपने श्रम के आदान-प्रदान में सौदेबाजी की शून्यता बंधुआ मजदूरी की ओर इंगित करता है। ऐसी स्थिति अधिकांश मामलों में ऋणग्रस्तता के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। यह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक भी चलती रहती है।

बंधुआ मजदूरी देश के विविध क्षेत्रों में अलग-अलग नामों से जानी जाती है। जहाँ आंध्र प्रदेश में इसे भगेला, कोत्ची, वेट्टी एवं कस्सिगल नामों से जाना जाता है। वहीं बिहार में इसे सौर्किया, रमसिया, कमिया आदि नामों से जानते हैं। गुजरात में भी हली और हलपटी व्यवस्थाऐं थीं। जीठा व्यवस्था कर्नाटक में प्रचलित थी और वेट तथा बेगार महाराष्ट्र में। बंधुआ मजदूरी प्रथा केरल में वल्लोरकावू पनम, निलपू पनम तथा अदिमा के रूप में विद्यमान थी। मध्य प्रदेश में हरवाही, महीदार, कबड़ी, हली एवं कमिया रूपों में यह मौजूद थी। एक ओर जहाँ ओड़िशा में यह गोठी व्यवस्था के रूप में प्रचलित थी, वहीं राजस्थान में सगरी व्यवस्था के रूप में। पंजाब की सेपी व्यवस्था,पश्चिम-बंगाल की हली व्यवस्था तथा उत्तर प्रदेश के माट, संजायत, बरवाही, हरिया एवं सेवक व्यवस्थाऐं बंधुआ मजदूरी के ही विविध रूप हैं। तमिलनाडु की वेट्टी एवं पन्द्यल व्यवस्थाऐं भी बंधुआ मजदूरी को दर्शाती हैं। इस प्रकार किसी ना किसी नाम से लगभग पूरे भारत में बंधुआ मजदूरी मौजूद थी।

9.4 स्वतन्त्रता से पूर्व बंधुआ मजदूरीप्रथा के उन्मूलन के प्रयास

स्वतन्त्रता से पूर्व बंधुआ मजदूरीप्रथा के उन्मूलनहेतु विविध प्रयास किये गए। इनमें उड़ीसा कमिऔती समझौता अधिनियम(सन्1920) प्रमुख है। इसके अन्तर्गत कामिया प्रथा के विविध पहलुओं पर प्रकाश ला गया, साथ ही बंधुआ मजदूरों के अधिकारों को सुरक्षित करने का प्रयास किया गया। बंधुआ मजदूरी व्यवस्था की समाप्ति के

सम्बन्ध में भी इसमें स्पष्ट प्रावधान किया गया। सन्1940 मद्रास में एजेन्सी ऋणग्रस्तता उन्मूलन विनियम ने दण्ड के कठोरतम प्रावधान किये,ताकि इस पर अंकुश लगाया जा सके। इसके द्वारा समझौतों को पस्त कर बंधुआ मजदूरी को समाप्त करने का प्रयास किया गया। 'हैदराबाद भगेला समझौता-सन्1943' ने भगेला (बंधुआ मजदुर) पर हो रहे अत्याचारों को समाप्त करने हेतु किसान एवं भगेला में समझौते पर बल दिया। इसमे 12 वर्ष से कम के बंधुआ मजदूरी पर पूर्णतः प्रतिबन्ध लगा दिया तथा भगेला के लिए एक सम्मानजनक समझौते को एक रूप दिया। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के 14वें सम्मेलन में सभी सदस्य राष्ट्रों से बलात् श्रम को समाप्त करने की गुजारिश की गयी,जिसे तत्कालीन भारतीय सरकार ने भी स्वीकार किया। सन्1931 के श्रम आयोग ने इस दिशा में सभी प्रयास किये। कृषि से मौलिक रूप से जुड़े होने तथा ऋण ग्रस्तता के कारण बंधुआ मजदूरी को समाप्त करने में सफलता हासिल नहीं हो पायी।

9.5स्वतन्त्रता के पश्चात बंधुआ मजदूरीप्रथा के उन्मूलन के प्रमुख कदम

मजदूर भी इस देश की आबादी का एक अभिन्न अंग हैं और देश के विकास का प्रतीक बनी इमारतों में उनका खून पसीना झलकता है। भारतसरकारनेदेशमेंबलात्श्रमयाबंधुआमजदूरीकेमुद्देपर निरन्तरसक्रियरुखअपनायाहै।स्वतंत्रता के पश्चात प0 जवाहर नेहरु मंत्रीमण्डल ने इस दिशा में शुरुआत से ही कार्य प्रारम्भ कर दिया था।संविधान की मूल भावनाओं के अनुरूप राज्य सरकारों ने भी पहल शुरू की। भारतीय संविधान के निर्माताओं ने बंधुआमजदूरी समाप्त करने की सीमाओं को ध्यान में रखते हुए संविधान के अन्तर्गत ऐसे प्रावधान शामिल किये जिनसे मजदूरों का हित सुरक्षित हो सके। अनुच्छेद 23(iii), 35(क)(ii) तथा 46 के अन्तर्गत व्यापक प्रावधान किये गए,ताकि किसी प्रकार का शोषण ना हो सके।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 23 के प्रावधान के अनुसार मानव तस्करी को प्रतिबन्धित किया गया हैतथा इसे कानून द्वारा दण्डनीय अपराध बनाया गया है। साथ ही बेगार या किसी व्यक्ति को पारिश्रमिक दिए बिना उसे काम करने के लिए मजबूर करना,जहाँ कानूनन काम ना करने के लिए या पारिश्रमिक प्राप्त करने के लिए हकदार है, भी प्रतिबन्धित किया गया है। बंधुआ मजदूरी उनमूलन अधिनियम(सन्1976) को इस अनुच्छेद में प्रभावी करने के लिए संसद द्वारा अधिनियमित किया गया है। संविधान का अनुच्छेद- 46 कहता है कि ''राज्य विशेष सावधानी से व्यक्तियों के कमजोर वर्गों, खासकर अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के शैक्षिक एवं आर्थिक हितों का संवर्धन करेगा और उन्हें सामाजिक अन्याय और सभी तरह के सामाजिक दोहन से रक्षा करेगा।'' संविधान का अनुच्छेद-330, 332, 335, 338 से 342 और पूरी पाँचवीं एवं छठी अनुसूची, अनुच्छेद-46 में नियत उद्देश्यों के कार्यान्वयन के लिए विशेष प्रावधानों से सम्बन्ध रखता है।

भारत सरकार शुरू से ही इस कुप्रथा को प्रभावित नागरिकों के मौलिक मानवाधिकारों का हनन मानता है और यह इस के यथासंभव न्यूनतम समय में पूर्ण समापन को लेकर तत्पर है । भारत ने 30 नवम्बर 1954 कोअन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के सम्मेलनसंख्या-29 (बाध्यश्रम सम्मेलन) की पुष्टि की। इसके पूर्व गोठी (बंधुआ मजदूर) व्यवस्था की समाप्ति हेतु 'उड़ीसा ऋण ग्रस्तता उन्मूलन अधिनियम,सन्1948' द्वारा एक सार्थक शुरुआत भारत में हो चुकी थी। राजस्थान में भी 'सागरी व्यवस्था उन्मूलन अधिनियम,सन्1961' द्वारा बंधुआ मजदूरी की समाप्ति का प्रावधान किया गया। सभी प्रकार के ऋणों के सम्बन्ध में व्यापक सुधार कर इन्हें मुक्त कराने का प्रयास किया गया। अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति आयुक्त के पद की स्थापना के साथ इन सकारात्मक कदमों को एक दिशा मिली। पूर्ववर्ती कानूनों के क्रियान्वयन में आ रही दिक्कतों को उजागर कर इसने इस ओर ध्यान आकर्षित किया। अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति आयुक्त की 12वीं तथा 15वीं रिपोर्ट इस दिशा में काफी कारगर

सिद्ध हुई। 11 अगस्त 1948 को केन्द्रीय श्रम मंत्रालय ने बंधुआ मजदूरी से सम्बन्धित विभिन्न प्रावधानों के अध्ययन एवं कार्यवाही के लिए एक विशेष कार्य-अधिकारी की नियुक्ति की गयी,जिसकी भूमिका काफी महत्वपूर्ण रही। श्रम मंत्रालय ने 10 सितम्बर 1951 में संसद में बंधुआ मजदूरी यथाशीघ्र समाप्त करने की आवश्यकता पर बल दिया। तत्पश्चात वरिष्ठ कांग्रेसी नेता यू0 एन0 ढेबर की अध्यक्षता में एक आयोग का गठन किया गया,जिसने बंधुआ मजदूरी की समाप्ति के सम्बन्ध में व्यापक प्रावधानों की आवश्यकता बताई तथा इसे दण्डनीय अपराध माना। अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति आयुक्त की सन्1951 से सन्1974 तक की रिपोर्ट बंधुआ मजदूरी को समाप्त करने की दिशा में महत्वपूर्ण पड़ाव सिद्ध हुए। भारत में 'बंधुआमजदूरप्रणाली(उन्मूलन) अधिनियम-सन्1976' कोलागूकरके इसे 25 अक्टूबर 1975 सेसण्पूर्णदेशसेखत्मकरदियागया है।इसअधिनियम केजरिएबंधुआ मजदूरगुलामीसेमुक्त हुए,साथहीउनकेकर्ज कीभीसमाप्तिहुई।इस कानून के बाद बंधुआ मजदूरी को एक दण्डनीय अपराध माना जाने लगा। इस अधिनियम के लागू होने पर प्रत्येक श्रमिक को जबरन श्रम करने की बाध्यता से मुक्त कर दिया गया था। इसअधिनियम कोसम्बन्धित राज्य सरकारोंद्वाराक्रियान्वित किया जारहाहै।यह कानून उन सभी बातों को अमान्य साबित करता है,जिनके अनुसार किसी व्यक्ति को बंधुआ श्रम के रूप में अपनी सेवाऐं देने के लिए बाध्य किया जा रहा हो।

9.6 बंधुआ मजदूरीप्रथा उन्मूलन अधिनियम- सन्1976

बंधुआ मजदूरी प्रथा सामाजिक समस्या के रूप में व्यापक पैमाने पर मौजूद थी,जिससे निपटने के लिए वर्ष 1976में एक कानून बनाया गया।'बंधुआ मजदूरी प्रथा उन्मूलन अधिनियम,सन् 1976' राज्यसभा में 6 जनवरी 1976 को प्रस्तुत किया गया, जिस पर राज्यसभा में 12 जनवरी को व्यापक बहस हुई तथा इसे इसी दिन पारित कर लोकसभा को भेज दिया गया। लोकसभा ने इस पर 23 एवं 27 जनवरी को बिन्दुवार चर्चा की। अनन्तर 9 फरवरी 1976 को राष्ट्रपति की स्वीकृति मिलते ही यह कानून बन गया। इसके बाद पूरे देश में बंधुआ मजदूरी प्रथा को पूरी तरह से समाप्त करने के ठोस कदम उठाए गए हैं। इस कानून के बाद बंधुआ मजदूरी को एक दण्डनीय अपराध माना जाने लगा है। अधिनियम के लागू होने पर प्रत्येक श्रमिक को जबरन श्रम करने की बाध्यता से मुक्त कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त यह कानून उन सभी बातों को अमान्य साबित करता है,जिनके अनुसार किसी व्यक्ति को बंधुआ श्रम के रूप में अपनी सेवाऐं देने के लिए बाध्य किया जा रहा हो।इस अधिनियम ने सभी बंधुआ मजदूरों को एकपक्षीय रूप के बन्धन से मुक्त कर दिया और साथ ही उनके कर्जो को भी समाप्त कर दिया।

इस प्रकार एक व्याप्त कुरीति को समाप्त करने हेतु लम्बे अरसे से चले आ रहे प्रयास सफल हुए। प्रावधानों को कानूनी रूप देकर केन्द्र सरकार ने विविध रूपों में प्रचलित वर्षों की अमानवीय प्रथा को समाप्त किया।

9.7 बंधुआ मजदूरीप्रथा उन्मूलन अधिनियम- सन्1976 के प्रावधान एवं क्रियान्वयन

बंधुआ मजदूरीप्रथा उन्मूलन अधिनियम, सन्1976 का मुख्य ध्येय कमजोर वर्गों के आर्थिक और वास्तविक शोषण को रोकना और उनसे सम्बद्ध मामलों में कार्रवाई किया जाना है। इस अधिनियम ने सभी बंधुआ मजदूरों को एकपक्षीय रूप से बन्धन से मुक्त कर दिया और साथ ही उनके कर्जो को भी समाप्त कर दिया। इस अधिनियम द्वारा बंधुआ प्रथा को दण्डनीय अपराध माना गया है। यह कानून श्रम मंत्रालय और सम्बन्धित राज्य सरकारों द्वारा प्रशासित और कार्यान्वित किया जा रहा है। राज्य सरकारों के प्रयासों की अनुपूर्ति करने के लिए मंत्रालय द्वारा बंधुआ मजदूरों के पुनर्वास की एक केन्द्र प्रायोजित योजना भी शुरू की गई थी। इस योजना के अन्तर्गत, राज्य

सरकारों को बंधुआ मजदूरों के पुनर्वास के लिए समान अनुदानों (50:50) के आधार पर केन्द्रीय सहायता मुहैया कराई जाती है।

बंधुआ मजदूरीप्रथा उन्मूलन अधिनियम, सन्1976 के मुख्य प्रावधान इस प्रकार हैं-

1. बंधुआ मजदूर प्रणाली को समाप्त किया जाए और प्रत्येक बंधुआ मजदूर को मुक्त किया जाए तथा बंधुआ मजदूरी की किसी बाध्यता से मुक्त किया जाए।
2. ऐसी कोई भी रीति-रिवाज करार या कोई अन्य लिखित बाध्यताऐं,जिसके कारण किसी व्यक्ति को बंधुआ मजदूरी जैसी कोई सेवा प्रदान करनी होती थी, को अब निरस्त कर दिया गया है।
3. इस अधिनियम के लागू होने से एकदम पहले कोई बंधुआ ऋण या ऐसे बंधुआ ऋण के किसी हिस्से का भुगतान करने की बंधुआ मजदूर की हरेक देनदारी समाप्त हो गई, मान ली जाएगी।
4. इस अधिनियम के अन्तर्गत कोई बंधुआ मजदूरी करने की मजबूरी से स्वतंत्र और मुक्त किए गए किसी भी व्यक्ति को उसके घर या अन्य आवासीय परिसर,जिसमें वह रह रहा/रही हो, बेदखल नहीं किया जाएगा।
5. किसी भी बंधुआ मजदूर की समस्त सम्पत्ति जो इस अधिनियम के लागू होने से एकदम पूर्व किसी गिरवी प्रभार, ग्रहणाधिकार या बंधुआ ऋण के सम्बन्ध में किसी अन्य रूप में भारग्रस्त हो, जहाँ तक बंधुआ ऋण से सम्बद्ध है, मुक्त मानी जाएगी और ऐसी गिरवी, प्रभार, ग्रहणाधिकार या अन्य बोझ से मुक्त हो जाएगी।
6. राज्य सरकार जिला मजिस्ट्रेट को ऐसी शक्तियां प्रदान कर सकती है और ऐसे कर्तव्य प्रदान कर सकती है जो यह सुनिश्चित करने के लिए जरूरी हो कि इस अधिनियम के प्रावधानों का उचित अनुपालन हो।
7. इस अधिनियम के प्रवृत्त होने के बाद, कोई व्यक्ति यदि किसी को बंधुआ मजदूरी करने के लिए कहता है, तो उसे कारावास और जुर्माने का दण्ड भुगतान होगा। इसी प्रकारयदि कोई बंधुआ ऋण अग्रिम में देता है, वह भी दण्ड का भागी होगा।
8. कोई भी उधारदाता किसी बंधुआ ऋण के प्रति कोई अदायगी स्वीकृत नहीं करेगा,जो इस अधिनियम के प्रावधानों के कारण समाप्त हो गया हो या समाप्त मान लिया गया हो या पूरा चुकता मान लिया गया हो।
9. अधिनियम के तहत प्रत्येक अपराध संज्ञेय और जमानती है और ऐसे अपराधों पर अदालती कार्रवाई के लिए कार्रवाई मजिस्ट्रेट को न्यायिक मजिस्ट्रेट की शक्तियां दिया जाना जरूरी होगा।
10. इस प्रकार प्राधिकृत जिला मजिस्ट्रेट और उसके द्वारा प्राधिकृत अधिकारी ऐसे बंधुआ मजदूरों के आर्थिक हितों की सुरक्षा और संरक्षण करके मुक्त हुए बंधुआ मजदूरों के कल्याण का संवर्धन करेंगे।
11. प्रत्येक राज्य सरकार सरकारी राजपत्र में अधिसूचना के जरिए प्रत्येक जिले और प्रत्येक उपमण्डल में इतनी सतर्कता समितियां, जिन्हें वह उपयुक्त समझे, गठित करेगी।

प्रत्येक सतर्कता समिति के कार्य इस प्रकार हैं-

- इस अधिनियम के प्रावधानों और उनके तहत बनाए गए किसी नियम को उपयुक्त ढंग से कार्यान्वित करना सुनिश्चित करने के लिए किए गये प्रयासों और कार्रवाई के सम्बन्ध में जिला मजिस्ट्रेट या उसके द्वारा विनिर्दिष्ट अधिकारी को सलाह देना;
- मुक्त हुए बंधुआ मजदूरों के आर्थिक और सामाजिक पुनर्वास की व्यवस्था करना;

- मुक्त हुए बंधुआ मजदूरों को पर्याप्त ऋण सुविधा उपलब्ध कराने की दृष्टि से ग्रामीण बैंकों और सहकारी समितियों के कार्य को समन्वित करना;
- उन अपराधों की संख्या पर नजर रखना,जिसका संज्ञान इस अधिनियम के तहत किया गया है;
- एक सर्वेक्षण करना ताकि यह पता लगाया जा सके कि क्या इस अधिनियम के तहत कोई अपराध किया गया है; तथा
- किसी बंधुआ ऋण की पूरी या आंशिक राशि अथवा कोई अन्य ऋण, जिसके बारे में ऐसे व्यक्ति द्वारा बंधुआ ऋण होने का दावा किया गया हो, की वसूली के लिए मुक्त हुए बंधुआ मजदूर या उसके परिवार के किसी सदस्य या उस पर आश्रित किसी अन्य व्यक्ति पर किए गए मुकदमे में प्रतिवाद करना।

इस अधिनियम के लागू होते ही ढेर सारी विसंगतियां सामने आना शुरू हो गई। फलस्वरूप सर्वोच्च न्यायालय ने ढेर सारे जनहित याचिकाओं की एक साथ सुनवाई करते हुए इस अधिनियम की ढेर सारे प्रावधानों को स्पष्ट किया। 'बंधुआ मुक्ति मोर्चा' बनाम 'भारत सरकार' वाद में न्यायालय ने जनहित याचिकाओं को अनुच्छेद- 32 के अन्तर्गत वैधता भी प्रदान की तथा बंधुआ मजदूरीप्रथा उन्मूलन अधिनियम,सन् 1976 के प्रावधानों को विस्तृत कर सकारात्मक रूप दिया।

राज्य एवं केन्द्र सरकारों द्वाराबंधुआ मजदूरों के पुनर्वास के लिए कुछयोजनाऐं भी लागू की गयी हैं,जिनका प्रभाव सकारात्मक एवं सार्थक रहा है।श्रम एवं रोजगार मंत्रालय द्वारा बंधुआ मजदूरों के पुनर्वास के लिए मई,1978 में केन्द्रीयकृत रूप से प्रायोजित योजना आरम्भ की गई जिसके अन्तर्गत इन श्रमिकों के पुनर्वास के लिए राज्य एवं केन्द्र सरकार द्वारा सहायता प्रदान की जाती है।साथ ही राज्य सरकारों द्वारा बंधुआ मजदूरों के लिए कुछ योजनाऐं भी प्रारम्भ की गई। बंधुआ श्रमिकों की पहचान करने के लिए जिलेवार सर्वेक्षण भी कराया जाता है,ताकि उन्हें शत-प्रतिशत सहायता प्रदान करवाई जा सके और अब इन श्रमिकों को दिए जाने वाला अनुदान 10 हजाररू0 से बढा कर 20 हजाररू0 कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त राज्य सरकारों को यह भी सलाह दी गई कि बंधुआ मजदूरों के पुनर्वास के लिए प्रायोजित योजना को अन्य योजनाओं,जैसे- स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना, अनुसूचित जातियों के लिए विशेष संघटक योजना व जनजाति योजनाओं के साथ जोड़े,जिससे उन्हें सभी लाभ प्राप्त हो सके। भूमि विकास, कम लागत वाली आवासीय इकाईयों का प्रावधान, पशु पालन, डेयरी व मुर्गी पालन, वर्तमान कौशल विकसित करने के लिए विशेष प्रशिक्षण, आवश्यक वस्तुओं की आपूर्ति, बच्चों को शिक्षित करना तथा उनके अधिकारों की रक्षा करना इनमे शामिल है। हरियाणा, अरूणाचल प्रदेश, बिहार, छत्तीसगढ, दिल्ली, गुजरात, झारखण्ड, कर्नाटक, उतराखण्ड, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र व मणिपुर राज्यों को बंधुआ श्रमिकों के सर्वेक्षण व जागरूकता सृजन कार्यक्रमों के लिए राशि दी गई है। श्रम व रोजगार मंत्रालय के आंकडों से पता चला है कि वर्ष 1997-98 के बाद ठोस प्रयासों के कारण बंधुआ मजदूरों की संख्या में भारी कमी आई है।साथ ही केन्द्र सरकार राज्य सरकार के सहयोग से देश में बंधुआ मजदूरी के अभिशाप से गरीबों को मुक्त करने के लिए अनेकों रोजगारोन्मुखी कार्यक्रम बना कर लागू कर रही है। अब इन बन्धित श्रमिकों का भी दायित्व बनाता है कि वे जागरूक होकर और किसी प्रकार के दबाव में ना आकर इन कल्याणकारी योजनाओं का लाभ उठाऐं और समाज की मुख्यधारा में लौटने की ओर कदम बढाएं। प्रधानमंत्री कार्यालय के निर्देशों के अनुरूप बंधुआ मजदूर प्रणाली उन्मूलन कानून-सन्1976 के क्रियान्वयन की निगरानी के लिए श्रम एवं रोजगार सचिव की अध्यक्षता में एक विशेष दल भी गठित किया गया है, जिसकी अब तक क्षेत्रवार 18 बैठकें हो चुकी हैं। सरकार नेसन्1980 में ऐलान किया था कि अब तक 1,20,500 बंधुआ मजदूरों को आजाद कराया जा चुका है। श्रम एवं

रोजगार मंत्रालय की वार्षिक रिपोर्ट के मुताबिकदेश में 19 प्रदेशों से 31 मार्च 2014 तक देश भर में 2,86,612 बंधुआ मजदूरों की पहचान की गई और उन्हें मुक्त कराया गया।

स्पष्ट है कि बंधुआ मजदूरी का उन्मूलन सिर्फ कागजों पर ही हुआ है। आन्तरिक स्तर पर बड़ी संख्या में लोगों के विस्थापन के कारण बंधुआ मजदूरी और महिलाओं का देह व्यापार हो रहा है। अतः इसमें मूलभूत सुधार की तत्काल आवश्यकता है।

अभ्यास प्रश्न-

1. वर्तमान समय में बंधुआ मजदूरी सबसे अधिक किस महाद्वीप में होती है?
2. बंधुआ मजदूरों की सबसे ज्यादा तादाद भारत में किस क्षेत्र में दिखती है ?
3. भारत के किस राज्य में बंधुआ मजदूरों की संख्या सर्वाधिक है?
4. बंधुआ मजदूरी उन्मूलन अधिनियम कब से लागू किया गया है?
5. बंधुआ मजदूरी उन्मूलन कानून भारत सरकार के किस मंत्रालय द्वारा प्रशासित और कार्यान्वित किया जा रहा है?

9.8सारांश

बंधुआ मजदूरी उन्मूलन अधिनियम के द्वारा श्रमिकों को उनकी जमीन लौटा दी गई और उन्हें कारावास, जुर्माना आदि से भी मुक्त कर दिया गया और साथ ही साथ ऋण चुकाने की अवधि को भी बढाया गया। इन सभी विशेषताओं के साथ देश में बंधुआ मजदूरी को लेकर लोगों में जागरूकता बढी और बंधित श्रमिकों ने अपने अधिकार व कर्तव्य जाने।बंधुआ मजदूरी उन्मूलन अधिनियम-सन्1976 के लागू होने के साथ ही बंधुआ मजदूरी पर पाबन्दी लग चुकी है,लेकिन हकीकत यह है कि श्रम कानूनों के लचीलेपन के कारण बंधुआ मजदूरों के शोषण का सिलसिला जारी है। हालांकि मनरेगा जैसी योजनाओं की मदद से बेहाली में जीवन गुजारने वाले विस्थापितों की संख्या में कमी आई है। आजादी के इतने सालों बाद भी हमारे देश में मजदूरों की हालत दयनीय है। शिक्षित और जागरूक ना होने के कारण इस तबके की तरफ किसी का ध्यान नहीं गया है। बीते दिनों20 राज्यों व केन्द्र शासित प्रदेशों के कई शहरों में हुये एक सर्वेक्षण आधारित अध्ययन ने देश में बंधुआ मजदूरी के मामले में सरकारी दावों की पोल खोल रख दी है। असंगठित क्षेत्रों के कामगारों के लिये बनायी गई 'राष्ट्रीय अभियान समिति' की अगुवाई में मजदूरों के लिए काम कर रहे कई मजदूर संगठनों व गैर-सरकारी संगठनों के द्वारा किये गये इस राष्ट्रव्यापी अध्ययन से पता चलता है कि देश में बंधुआ मजदूरी अब तक बरकरार है। भले ही इसका स्वरूप आज के उद्योगों की नयी जरूरतों के हिसाब से बदला है। लेकिन असंगठित क्षेत्रों में हो रहा ज्यादातर श्रमकिसी ना किसी रूप मेंबंधुआ मजदूरी का ही एक रूप है। बार-बार यह तथ्य सामने आया है कि आज देश के ज्यादातर इलाकों में बंधुआ मजदूरी की परम्परा के फिर से जड़ पकड़ने के पीछे पलायन और विस्थापन का अभिशाप निर्णायक भूमिका निभा रहा है। सरकार को चाहिए कि वह श्रम कानूनों का सख्ती से पालन कराए, ताकि मजदूरों को शोषण से निजात मिल सके।

9.9 शब्दावली

उन्मूलन- समाप्ति या नाश,बलात् श्रम- मजदूरी या बिना मजदूरी के बलपूर्वक श्रम करवाना,

अध्यादेश- विधान मण्डल की कार्यवाही ना होने की स्थिति में राजनीतिक कार्यपालिका द्वारा लाया गया कानून,संविधान- राजनीतिक व्यवस्था को नियमित एवं नियंत्रित करनेवाला देश का सर्वोच्च कानून

9.10अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. एशिया में,**2.**कृषि क्षेत्र में,**3.**महाराष्ट्र में,**4.**1976 में,**5.**श्रम मंत्रालय

9.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. के0सरन, 1975, 'लॉ एंड बोंडेड लेबर सिस्टम' नेशनल लेबर इंस्टिट्यूट बुलेटिन, अंक- 11,नई दिल्ली।
2. महाश्वेता देवी एवं निर्मल घोष,1999, भारत में बंधुआ मजदूर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
3. गिरीश अग्रवाल एवं कॉलिन गोंसाल्विस, 2010, दलित और कानून, ह्यूमन राइट्स लॉ नेटवर्क, नई दिल्ली।
4. श्रीराम माहेश्वरी,2009,भारतीय प्रशासन, ओरिएंट ब्लैकस्वान, नई दिल्ली।

9.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. आर0बी.0 जैन, 2009, भारतीय प्रशासन में समकालीन मुद्दे,विशाल प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. सुषमा यादव एवं राम अवतार शर्मा, 1997,भारतीय राजनीति ज्वलंत प्रश्न, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

9.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1. बंधुआ मजदूरी का अर्थ स्पष्ट कीजिए तथा भारतमें प्रचलित बंधुआ मजदूरीप्रथा का वर्णन कीजिए।
2. स्वतन्त्रता से पूर्व एवं स्वतन्त्रता के पश्चात बंधुआ मजदूरीप्रथा के उन्मूलन के प्रमुख प्रयासों का मूल्यांकन कीजिए।
3. बंधुआ मजदूरीप्रथा उन्मूलन अधिनियम- सन्1976 क्या है? विस्तार से बतायें।
4. बंधुआ मजदूरीप्रथा उन्मूलन अधिनियम- सन्1976 के प्रावधान एवं क्रियान्वयन पर प्रकाश डालिए।

इकाई- 10 हित समूह, दबाव समूह एवं नीति-निर्माण

इकाई की संरचना

10.0 प्रस्तावना
10.1 उद्देश्य
10.2 हित समूहएवं दबाव समूह का अर्थ
10.3 हित समूह और लोक नीति
10.4 हित समूह एवं नीति-निर्माण
10.5 हित समूह और राज्य
10.6 दबाव समूह के प्रमुख तत्व
10.7 दबाव समूह के प्रकार अथवा वर्गीकरण
10.8 सारांश
10.9 शब्दावली
10.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
10.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
10.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
10.13निबन्धात्मक प्रश्न

10.0 प्रस्तावना

समूह का समाज में महत्वपूर्ण स्थान है। समाज के विकास का प्रत्येक अवस्था में समूह किसी ना किसी तरह से विद्यमान रहे हैं। परन्तु जब हम हित समूह की बात करते हैं,तो अपेक्षाकृत संगठित समूह के अर्थ को प्रकट करता है और हित समूह में वे सदस्य होते हैं,जो समान विचार रखते हैं। इस हित समूह के हित भी समान होते हैं। ये अपने हितों की सिद्धि करने के लिए सरकारी संस्थाओं, संगठनों और अभिकरणों को प्रभावित करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील होते हैं।

इस इकाई में हम हित समूह का समग्र अध्ययन करेंगे। जिसमें सर्वप्रथम इसके अर्थ का अध्ययन करेंगे। इसके पश्चात यह देखेंगे कि किस प्रकार से हित समूह नीति-निर्माण में परोक्ष रूप से अपनी प्रभावकारी भूमिका निभाते हैं। हम यह भी अध्ययन करेंगे कि राज्य की बदलती प्रकृति के अनुरूप हित समूह की महत्ता और भूमिका पर प्रभाव पड़ता है। जहाँ लोकतांत्रिक शासन में हित समूह सक्रिय और प्रभावशाली होते हैं,वहीं अधिनायकवादी शासन में इनका प्रभाव उतना व्यापक और निर्णायक नहीं होता है।

10.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- हित समूह के अर्थ और प्रकृति को जान सकेंगे।
- हित समूह और लोक नीति के सम्बन्ध को जान सकेंगे।
- लोक नीति के निर्माण में हित समूह की भूमिका को जान सकेंगे।

- राज्य की प्रकृति के अनुरूप हित समूह को जान सकेंगे।

10.2 हित समूह एवं दबाव समूह का अर्थ

दबाव समूह:

सामान्य शब्दों मेंकहें तो दबाव समूह विशेष हितों के साथ जुडे एसे संगठन होते हैं जो अपने समूह के हितों की रक्षा के लिए नीति निर्माताओं पर दबाव बनाते हैं।

वी0ओ0की0 के शब्दोंमें- ‘‘दबाव समूह वे निजी संघ हैं जो सार्वजनिक नीतियों का प्रभावित करने के लिये बनते हैं।’’

ओटी गार्ड के शब्दों में- ‘‘दबाव समूह ऐसे व्यक्तियों का औपचारिक संगठन है जिनके एक या अनेक सामान्य उद्देश्य अथवा स्वार्थ होते हैं जो घटनाओं के क्रम को विशेष रूप से सार्वजनिक नीति के निर्माण और शासन को अपने हितों की रक्षा एवं वृद्धि के लिये प्रभावित करते हैं।’’

माइनर वीनर के शब्दों में- ‘‘हित अथवा दबाव समूह से हमारा अभिप्राय किसी ऐसे ऐच्छिक रूप से संगठित समूह से होता है जो सरकार के संगठन से बाहर रहकर अधिकारियों की नियुक्ति, सरकार की नीति, इसका प्रशासन तथा इसके निर्णय को प्रभावित करने का यत्न करता हो।’’

उपरोक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि दबाव समूह एक से हित वाले लोगों का एक समूह है जो अपने समूह हित की पूर्ति के लिए सरकार पर दबाव बनाते हैं। ये समूह औद्योगिक, व्यापारिक, व्यावसायिक, श्रमिक समूह विधि निर्माण के कार्य को अपने हित मेंप्रभावित करने का प्रयास करते हैं। ये समूह अपने सदस्यों के हितों की पूर्ति के लिये सभी माध्यमों से दबाव बनाते है।

हित समूह:

हित समूहवह ‘समूह’ है,जिसके सदस्य समान विचार के होते हैं, उनके समान हित होते हैं। इन हितों की सिद्धि के लिए ये सरकारी संस्थाओं, संगठनों और अभिकरणों को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। इन हित समूहों के आकार, शक्ति, धन और उद्देश्यों में भिन्नता भी दिखाई देती है। इस भिन्नता का कारण यह होता है कि ये समूह हितों के आधार पर बनते हैं। यह सम्भव है कि किसी हित समूह का निर्धारित लक्ष्य अल्पकालिक हित हो और किसी का दीर्घकालिक हित हो। साथ ही यह भी सम्भव है कि कोई हित समूह किसी एक लक्ष्य को ध्यान में रखकर सक्रिय हो, तो कोई अन्य हित समूह कई हितों की सिद्धि के लिए बनाया गया हो।

इस प्रकार हितों की बढ़ती संख्या के साथ और उसकी अवधि के साथहित समूहों की गतिविधि का क्षेत्र निर्धारित होता है। यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि ये हित समूह शासन की उन नीतियों को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं,जो इनके हितों को प्रभावित करती है।

हित समूह को और अधिक स्पष्टता से समझने के लिए समूह को समझना आवश्यक है। क्योंकि हित समूह भी एक सामाजिक समूह है,जो हित विशेष या कुछ हितों की सिद्धि के लिए बनता है।

आगबर्न और निमकाफ ने कहा है कि ‘‘जब कभी दो या दो से अधिक व्यक्ति एकत्रित होते हैं और एक-दूसरे पर प्रभाव डालते हैं तो सामाजिक समूह का निर्माण होता है।’’ परन्तु यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि किस प्रकार के सामाजिक सम्बन्ध से समूह का निर्माण होता है। उक्त परिभाषा के विपरीत मर्टन का कथन है कि क्षणिक सामाजिक सम्बन्ध से समूह का निर्माण नहीं होता है। वरन् समूह के निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि सदस्यों

के बीच होने वाली अन्तःक्रिया में बारम्बरता(Frequency) हो तथा उसमें स्थायित्व के लक्षण भी हों। तथा समूह के बाहर के सदस्यों के द्वाराउस समूह सदस्य को मान्यता भी दी जाए।

इस प्रकार समूह निर्माण के लिए कुछ बुनियादी तथ्य महत्वपूर्ण हैं-

1. सर्वप्रथम दो या दो से अधिक व्यक्तियों की उपस्थिति हो।
2. इनके सदस्यों के बीच होने वाली सामाजिक अन्तःक्रिया में बारम्बारता(Frequency) हो, जो काफी हद तक स्थायित्व को प्रकट करते हो।
3. सम्बन्धित समूह के सदस्य स्वंय को उस समूह का सदस्य मानते हों और अन्य उन्हें इस रूप में स्वीकार करते हों।

जॉनसन,समूह के लिए सामाजिक सम्बन्ध का होने से आगे भी कुछ आवश्यक मानते हैं। वह है समूह के सदस्यों में सहयोग का पाया जाना। समूह के अर्थ को जानने के पश्चात अब हम हित समूह को जानने का प्रयत्न करते हैं। हित समूह दो शब्दों से मिलकर बनता है, हित और समूह। अब यहाँ ध्यान देने वाला महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि समूह के पहले हित है, अर्थात हित पहले है। दूसरे शब्दों में कहें तो यह कि जो समूह किसी विशेष हित या हितों की सिद्धि के लिए कुछ समान विचार वाले व्यक्तियों द्वारा बनाये जातें हैंऔर ये शासन, प्रशासन की उन नीतियों और कार्यक्रमों को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं, जो इनके हितों को सकारात्मक/नकारात्मक रूप से प्रभावित करते हैं, या प्रभावित कर सकते हैं।

जैसा कि हम सभी इस बात से अवगत हैं कि हमारे देश में संसदीय जनतन्त्र को अपनाया गया है जो प्रतियोगी राजनीतिक दलों के द्वारा संचालित होता है। अर्थात सत्ता को कौन धारण करेगा? इसका निर्णयएक चुनाव प्रक्रिया से होता है, जिसमें कई राजनीतिक दल भाग लेते हैं। इन राजनीतिक दलों के अपने कार्यक्रम होते हैं। यद्यपि ये कोशिश करते हैं कि देश के बहुतायत भाग के हितों को अपनी नीतियों और कार्यक्रमों में शामिल कर सकें। लेकिन कभी-कभी यह होता है कि कुछ व्यक्ति या व्यक्ति समूह के हितों को वे शामिल नहीं कर पाते। ऐसी स्थिति में कुछ व्यक्ति जो अपने हितों की सिद्धि करना चाहते है, वे इस तरह के समान हित और विचारधारा के आधार पर एक समूह का निर्माण करते हैजो इनके हितों को ध्यान में रखते हुए शासन के संस्थाओं, संगठन, और अभिकरणों को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार से सक्रिय से समूह ही हित समूह कहलाते हैं।

10.3 हित समूह और लोक नीति

इस इकाई के इस भाग में हम लोक नीति और हित समूहों के बीच सम्बन्ध का अध्ययन करेंगे। इसी क्रम में यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि हित समूह हमेशा नीति-निर्माण करने वाली संस्थाओं, अभिकरणों और संगठनों को प्रभावित कर अपने उद्देश्यों की सिद्धि का प्रयत्न करते रहते हैं।

हित समूहों का संगठन और आस्तित्व सम्बन्धित देश की सामाजिक-आर्थिक संरचना की प्रकृति पर निर्भर करता है,क्योंकि सामाजिक-आर्थिक संरचना के अनुरूपहितों के उद्-भव के फलस्वरूप हित समूहों की संरचना और प्रकृति निर्भर करती है।जैसा कि टॉमसआरंडाइने कहा है कि ''आधुनिक शहरी संस्थागत समाजों में हित समूहों का बाहुल्य है। इनकी विविधता और बहुलता के कारण ऐसी सम्भावना का जन्म ही नहीं हो पाता कि कोई एक हित समूह समस्त क्षेत्रों में नीति-निर्माण को निर्धारित कर सके।'' इसके विपरीत गरीब, ग्रामीण तथा कृषि समाजों में कम हित समूह उत्पन्न होते हैं, परन्तु अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओं में इन हित समूहों के पास नीति-निर्माण को प्रभावितकरने के अधिक अवसर होते हैं। वैश्विक स्तर पर जब हम देखते हैं,तो पाते हैं कि विकासशील और अल्पविकसित देशों में विकसित देशों की अपेक्षा कम हित समूह पाये जाते हैं,साथ ही यह भी दिखाई देता है कि ये

संकीर्णताओं से भी प्रेरित होते हैं। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ये विकासशील या अल्पविकसित देशों में कम महत्व रखते हैं। देश कोई भी हो, चाहे वहाँ लोकतान्त्रिक सरकार हो या अधिनायकवादी सरकार हो, हित समूह पाये जाते हैं। यद्यपि अधिनायकवादी राजनीतिक व्यवस्था में वे उतनी प्रभावशाली भूमिका का निर्वहनलोक नीति के सन्दर्भ में नहीं निभा पाते,क्योंकि वहाँ पर अधिनायक का निर्णय अन्तिम होता है, जिस पर कोई सवाल नहीं खड़े किये जा सकते हैं।

चूँकि जैसा कि हम ऊपर यह स्पष्ट कर चुके हैं कि हित समूहनीतियों का निर्माण करने वाली संस्थाओं, संगठनों और अभिकरणों को प्रभावित कर अपने हितों के अनुरूप नीति-निर्माण करवाने हेतु सक्रिय होते हैं, परन्तु वे उसके सदस्य नहीं होते हैं। अर्थात वे उस संस्था, संगठन और अभिकरण के सदस्य नहीं होते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि ये राजनीतिक दल नहीं होते हैं। चूँकि राजनीतिक दल प्रत्यक्ष रूप से चुनाव प्रक्रिया में भाग लेते हैं और सत्ता प्राप्त कर नीतियों का निर्माण करते हैं। जबकि हित समूह बाहर से अपने हितों के अनुरूप हितों के पक्ष में नीतियों के निर्माण हेतु प्रभावित करते हैं।

इस प्रकार समान हितों पर आधारित कई प्रकार के हित समूह हो सकते हैं। समान आदर्शों पर आधारित समूह जो एक समान आदर्शों और लक्ष्यों वगन्तव्यों में विश्वास करने वाले हों। यदि भारत का उदाहरण लें तो किसानों के हितों पर आधारित समूह हैं,जो अपने हितों (किसान के हितों) की सिद्धि हेतु प्रयत्न करते हुए दिखाई देते हैं। व्यापारियों के समान हित पर आधारित हित समूह भी हो सकते हैं। वर्तमान में उपभोक्ताओं के हितों के आधार पर भी संगठित हित समूह दिखाई दे रहे हैं। जिनके प्रयासों और अन्य कारकों के सम्मिलित प्रभाव से भारत में उपभोक्ता संरक्षण कानून भी बना और उसके आधार पर उपभोक्ताओं के हितों के संरक्षण का कार्य किया जा रहा है। इन समूहों का मुख्य उद्देश्य होता है लोक नीति को प्रभावित करना। अर्थात लोक नीति को अपने अनुरूप ढ़ालने का प्रयास करना,जिससे उनके अपने हितों की भी सिद्धि हो सके।

यहाँ एक तथ्य को स्पष्ट करना भी आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना हित समूहों की गतिविधि की प्रकृति को सही तरीके से नहीं जान सकते। जहाँ पर लोकतान्त्रिक शासन हो वहाँ पर बहुमत की प्राप्ति के लिए समाज के अधिकांश समूहों का सहयोग आवश्यक होता है। इसलिए लोकतन्त्र में राजनीतिक दलों और हित समूहों में सम्बन्ध दिखाई देते हैं। यह अन्योन्याश्रय(Interdependence) का सम्बन्ध हो जाता है,क्योंकि बहुमत की प्राप्ति के लिए राजनीतिक दलों को हित समूहों के माध्यम से भी जन समर्थन की आवश्यकता होती है। जब कि हित समूहों को अपने हितों की नीति में शामिल करने के लिए राजनीतिक दलों पर भी निर्भर होना पड़ता है,क्योंकि राजनीतिक दलों के माध्यम से अपने हितों को उनके घोषणा-पत्र में शामिल करवाने औरजब वह राजनीतिक दल सत्ता में आ जाए तो फिर उसे नीति के रूप में अपनाने हेतु प्रभावित करते हैं।

उपरोक्त अध्ययन के आधार पर जब हम देखते हैं,तो स्पष्ट होता है कि राजनीति विज्ञान और लोक प्रशासन के अध्येता के लिए अध्ययन और शोध के ज्वलंत विषयों में से एक हित समूह और लोक नीति दिखाई देता है, जिसमें हित समूहों की राजनीति का अध्ययन किया जाता है। अर्थात हित समूह प्रत्यक्ष रूप से राजनीति में भागीदारी किये बिना किस प्रकार से नीति-निर्माण करने वाली संस्थाओं को प्रभावित कर अपने हितों की सिद्धि करते हैं।

10.4 हित समूह और नीति-निर्माण

किसी भी राजनीतिक व्यवस्था के मुख्य दायित्वों में नीति-निर्माण प्रमुख होता है,क्योंकि अपनी नीतियों के माध्यम से जहाँ वे एक तरफ जनता की आकांक्षाओं-अपेक्षाओं को अभिव्यक्त करते हैंतो दूसरी तरफ जनता के हितों और

आकांक्षाओं के प्रति अपनी संवेदनशीलता को प्रकट करते हैं। यह तथ्य तो एक लोकतान्त्रिक शासन में और भी महत्वपूर्ण हो जाता है। जैसा कि हम यह ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं कि भारत में संसदीय लोकतन्त्र अपनाया गया है,जिसमें संसद के निम्न सदन में बहुमत प्राप्त दल को ही सरकार के गठन और संचालन का अधिकार प्राप्त होता है। बहुमत प्राप्ति के लिए देश के अधिकांश हित समूहों का समर्थन प्राप्त होना चाहिए। चूँकि भारत एक विविधतापूर्ण समाज है,जहाँ जाति, पंथ, सम्प्रदाय, भाषा, भोगोलिक संरचना में विविधता के साथ जुड़ी सांस्कृतिक भिन्नता पाई जाती है। इसलिए बहुमत प्राप्ति के लिए सभी दलइन सभी के समर्थन की प्राप्ति के लिए प्रयास करते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जहाँ पर राजनीतिक दल प्रभावकारी तरीके से अपनी भूमिका का निर्वाह करते हैं, वहाँ पर हित समूह उतने प्रभावशाली नहीं हो पाते हैं। परन्तु जहाँ राजनीतिक दल अपनी भूमिका का निर्वाह सफलतापूर्वक नहीं कर पाते,वहाँ पर हित समूह नीति-निर्माण में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। खासतौर से भारत जैसे देश में जहाँ हितों का बाहुल्य है। अर्थात समूहों की भिन्नता है और उन समूहों के अलग हित हैं।

यहाँ एक तथ्य और स्पष्ट करना आवश्यक है कि हित समूह केवल अपने समूह के सदस्यों के हितों की सिद्धि के लिए ही प्रयत्नशील नहीं होते हैं। इसके आगे भी वे अपने हितों से समानता रखने वाले समूहों के हितों की सिद्धि के लिए भी प्रयत्नशील रहते हैं। अपनी इस भूमिका का निर्वाह उनके लिए लोकतान्त्रिक शासन में अपेक्षाकृत आसान होता है,क्योंकि लोकतन्त्र में शासन को लगातार बने रहने के लिए जनमानस के सहयोग की अपेक्षा रहती है। भारत जैसे समाज में तो हित समूहों की अधिकता (बहुलता) है। अर्थात अलग-अलग प्रकार के हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले अलग-अलग हित समूह। इस प्रकार के समाज से सहयोग की अपेक्षा अन्ततः हित समूहों से सहयोग की अपेक्षा के रूप में दिखाई देती है, जिससे राजनीतिक व्यवस्था में हित समूहों की महत्ता और प्रभाव में वृद्धि हो जाती है। लेकिन अधिनायवादी शासन में हित समूह उतने प्रभावशाली नहीं होते हैं, क्योंकि उनमें अधिनायक की इच्छा सर्वोपरि होती है ना कि जन-सामान्य की आकांक्षाऐं और अपेक्षाऐं। भारत में आजादी के बाद सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक वातावरण में काफी परिवर्तन दिखाई देता है। अब सभी जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्र के वासी को समान दर्जा (भारतीय नागरिक) प्राप्त है,जो कानून के समक्ष समान हैं। कृषि एवं उद्योगों के विकास के कारण नये वर्गों का उदय हुआ। उत्तर प्रदेश, हरियाणा, पंजाब तथा महाराष्ट्र के कुछ भागों में कृषि के विकास के साथ कृषि पर आश्रित नये सम्पन्न तबके का उदय हुआ, जिसने अपने हितों की रक्षा के लिए संघ बनाए। उन संघों ने अपने कृषक हितों की रक्षा के लिए सफल प्रयास किये हैं। जिसमें उत्तर प्रदेश में भारतीय किसान यूनियन, महाराष्ट्र में शेतकारी संगठन आदि।

इसके साथ ही औद्योगिक क्षेत्र के विकास और आर्थिक सुधार को लागू करने से नये औद्योगिक अभिजात्य-वर्ग का उदय हुआ। साथ ही देश में नीतियों के निर्माण में सहायक की भूमिका अदा करने वाले तथा उन नीतियों के क्रियान्वयन से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित एक विस्तृत आकार की नौकरशाही का उद्-भव हुआ। इन सभी ने अपने हितों की रक्षा के लिए संघ बनाए। ये संघ संगठित हित समूह के रूप में हमारे समक्ष दिखाई देते हैं। इस प्रकार से स्पष्ट है कि भारत में मुख्यतः तीन प्रमुख क्षेत्रों से संगठित समूह हैं। वे तीन प्रमुख हैं-

1. किसानों के हित से सम्बन्धित।
2. उद्योगों के उद्योगपतियों/कार्मिकों अर्थात औद्योगिक संघ/मजदूरों से सम्बन्धित।
3. नौकरशाही से सम्बन्धित संघ।

यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि प्रथम अर्थात किसानों के हित से सम्बन्धित हित समूहों ने किसानों के हितों की रक्षा हेतुनीतियां बनवाने में उस हद तक सफलता नहीं प्राप्त की है, जिस हद तक अन्य दोनों ने प्राप्त की है।

उसका कारण है कि किसान आधारित हित समूह लोकतन्त्र में अपनी क्षमता का प्रभावशाली ढंग से प्रयोग नहीं कर रहे हैं। इसका तात्पर्य है कि ये संगठित रूप से सत्ता के अस्तित्व के निर्धारण में प्रभावशाली नहीं है। अर्थात वह किसान के रूप में किसी राजनीतिक दल की जीत और हार के निर्धारक के रूप में अपने को सामने नहीं ला सका है।

दूसरे क्रम पर मजदूर संघों ने भी बहुत सफल प्रभाव नीति-निर्माण में नहीं छोड़ा है। लेकिन उद्योगों से सम्बन्धित हित समूहों ने नीति-निर्माण को बहुत प्रभावित किया है, क्योंकि चुनाव में राजनीतिक दलों को ये बड़ी संख्या में आर्थिक सहायता करते हैं (चंदे के रूप में)। इसलिए सत्ता में आने वाले राजनीतिक दल उनके हितों को नजर-अन्दाज नहीं कर पाते हैं। भारत में नौकरशाही की संरचना विशाल है। इसकी विशालता के प्रमुख कारण एक तो देश की विशालता, दूसरी संघ और राज्य दोनों स्तर पर प्रशासनिक ढ़ाँचे का पाया जाना है। इस द्विस्तरीय नौकरशाही ने अपने हितों की रक्षा के लिए बड़े ही संगठित तरीके से हित समूह बना रखे हैं। ये काफी हद तक अपने हितों की सिद्धि में सफल भी हैं, क्योंकि ये नीति-निर्माण में सहयोगी की भूमिका में हैंऔर नीति के क्रियान्वयन के स्तर पर तो प्रत्यक्ष जिम्मेदारी निभाते हैं।

10.5 हित समूह और राज्य

हित समूह और नीति-निर्माण इकाई के अध्ययन के इस चरण में हम राज्य की प्रकृति में भिन्नता के साथ हित समूहों के स्वरूप का अध्ययन करेंगे। आज विश्व में मुख्य रूप से दो तरह ही राजव्यवस्थाऐं प्रचलन में हैं, पहला- लोकतान्त्रिक और दूसरा- अधिनायकवादी।

लोकतन्त्र में सरकार के गठन की प्रक्रिया में जनता का निर्णायक योगदान होता है,क्योंकि जनता के मत के आधार पर हीबहुमत प्राप्त दल को सरकार के गठन और संचालन का अधिकार होता है। जो मतदान कर रहे हैं (मतदाता), उनके विभिन्न हित होते हैं और उन हितों के आधार पर समान हित वाले हित समूह का निर्माण करते हैं,जो उनके मतदान व्यवहार को प्रभावित करता है। अर्थात वे किस राजनीतिक दल को अपना मत देंगे, वह इस बात पर निर्भर करता है कि कोई राजनीतिक दल किस हद तकउनके हितों को अपने घोषणा-पत्र में शामिल करता हैऔर सरकार में आने पर उसका क्रियान्वयन भी किस हद तक करता है। इसीलिए यह भी दिखाई देता है कि ये हित समूह अलग-अलग समय पर अलग-अलग दलों के साथ खड़े होते हैं। इसलिए किसी भी लोकतान्त्रिक शासन में यह सम्भव नहीं है कि वह हित समूहों की मांग की लम्बे समय तक अनदेखी कर दें। जबकि अधिनायकवादी सरकार में निर्णायक स्थिति में जनता नहीं होतीवरन् अधिनायक होता हैं। इसलिए इस शासन व्यवस्था में हित समूहों की प्रभावशाली सक्रियता नहीं दिखाई देती है।

हित समूहों और राज्य के बीच के सम्बन्धों का सही अध्ययन करने के लिए इसमें एक पक्ष और शामिल करना होगा, वह है- संगठित हित समूह और असंगठित हित समूह। संगठित हित समूह आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न तथा राजनीतिक दृष्टि से जागरूक होते हैं, इसलिए वे सरकार की संस्थाओं, संगठनों और उसके अभिकरणों पर अपने हितों की सिद्धि के अनुरूप प्रभावशाली दबाव बनाने में सफल भी होते हैं। जबकि असंगठित हित समूह आर्थिक दृष्टि से कमजोर तथा प्रायः राजनीतिक दृष्टि से उस हद तक जागरूक नहीं होते हैं, जिस हद तक संगठित हित समूह। इसलिए कोई भी लोकतान्त्रिक देश इन असंगठित हित समूहों के सामान्य हितों की दीर्घकालिक अनदेखी नहीं कर सकता,क्योंकि सरकार को अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए उनके भीमत सहयोग की आवश्यकता होती है। जब हम भारत को देखते हैं तो पाते हैं कि परम्परागत रूप से मुख्य धारा से वंचित जातियों ने भी अपने

हितों को संगठित करने में सफलता प्राप्त की है। ऐसा इसलिए सम्भव हुआ,क्योंकि यहाँ जनतन्त्र है, जिसे बहुमत की जरूरत होती है।

10.6 दबाव समूह के प्रमुख तत्वः-

1.सीमित उद्देश्यः- जहाँ राजनीतिक दल का उद्देश्य सार्वजनिक हित की पूर्ति करना होता है वहाँ दबाव समूह का उद्देश्य सीमित होता है। यह केवल अपने समूह के हित को पूरा करने का प्रयास करते हैं। ये अपने समूह हित को पूरा करने के बाद या तो निष्क्रिय हो जाते हैं या समाप्त हो जाते हैं। इनका स्वार्थ केवल अपने समूह हित तक होता है। ये सार्वजनिक हित, राष्ट्रहित के विषय मेंसक्रिय नहीं रहते।

2.सीमित सदस्यताः- दबाव समूह का जन्म ही वर्ग विशेष, समूह विशेष की हित पूर्ति के लिये होता है। यही कारण है कि इनकी सदस्यता सीमित रहती है। ये एक विशेष वर्ग के लोग होते हैं। इसमेंसम्पूर्ण देश के सभी समूहों का प्रतिनिधित्व नहीं होता। यही कारण है कि इनकी सदस्यता सीमित होती है। उदाहरण के लिये वे छात्र संघ, किसान सभा, मजदूर संघ के रूप मेंदिखायी पड़ते हैं।

3.संवैधानिक-असंवैधानिक साधनों का प्रयोगः- दबाव समूह अपने उद्देश्य को पाना चाहते हैं। वे सरकार की विधि निर्माण की प्रक्रिया पर दबाव बना कर अपने उद्देश्यों को पूरा करना चाहते हैं। इसके लिये कई बार वे संवैधानिक तथा असंवैधानिक माध्यमों का भी प्रयोग करते है। वे विधि निर्माताओं को धमकी देना, प्रलोभन देना, धन देना, डराना आदि सभी उपक्रम कर अपने लिये कार्य करवाना चाहते हैं। वह सभी प्रकार के हथकन्डे अपना कर अपने हितों की पूर्ति करते हैं।

4.शासन एवं विधान मण्डल की सदस्यता नहीं- ये विधि निर्माण की प्रक्रिया को प्रभावित कर अपने हित मेंविधि निर्माण चाहते हैं। इस विधि निर्माण प्रक्रिया मेंखुद को शामिल नहीं करना चाहते अर्थात् स्वयं चुनाव लड़कर विधानमण्डल मेंपहुँचकर स्वयं कानून बनाने मेंशामिल नहीं होना चाहते। शासन के उत्तरदायित्व से बाहर रहकर केवल दबाव द्वारा अपने हित साधना चाहते हैं।

5.अनिश्चित कार्यकालः- दबाव समूह का जन्म ही निश्चित उद्देश्य एवं हित साधन के लिए होता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के साथ ही उनकी उपयोगिता समाप्त हो जाती है और वो भी समाप्त हो जाते हैं। कुछ दबाव समूह जिनके उद्देश्य पूरे नहीं हुए हैं वे बने रहते है। इन दबाव समूहों की सक्रियता मेंअन्तर आता रहता है।

6.सभी शासन व्यवस्थाआं मेंउपलब्धताः- दबाव समूह आधुनिक समय मेंसभी शासन व्यवस्थाओं मेंउपलब्ध दिखायी पड़ते हैं। लोकतन्त्र हो या तानाशाही, पूँजीवादी राज्य हो या समाजवादी राज्य सभी मेंदबाव समूह सक्रिय दिखायी पड़ते हैं। राबर्ट सी0 वोन के शब्दों में- ''दबाव समूह सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं मेंसर्वाधिकारवादी राज्यों मेंभी पाये जाते हैं।

10.7 दबाव समूहों के प्रकार अथवा वर्गीकरणः-

समाज मेंकई तरह के दबाव समूह दिखायी पड़ते हैं। संगठन के आधार पर यह जनवादी समूह तथा परम्परागत या विशिष्ट वर्गीय समूह के रूप मेंदिखते हैं अनेक विद्वानों ने दबाव समूहों के वर्गीकरण प्रस्तुत किये है। लोकतान्त्रिक देशों मेंयह मुख्य रूप से छोटे, बड़े, स्थाई, अस्थाई कई प्रकार के दबाव समूह पाये जाते हैं। यह वर्गीकरण लक्ष्य, संगठन की प्रकृति, अवधि, कार्य, क्षेत्र आदि के आधार पर किया जाता है।

लक्ष्य के आधार पर यह स्वार्थी एवं परोपकारी तथा संगठन के आधार पर औपचारिक एवं अनौपचारिक तथा कार्य क्षेत्र के आधार पर सीमित एवं वृहद कार्य क्षेत्र वाले दबाव समूह कहा जा सकता है। राजनीति शास्त्र मेंअनेक

विद्वानों ने जैसे आमण्ड, हिचनर, जीन ब्लोण्डेल ने अलग-अलग वर्गीकरण प्रस्तुत किये हैं। इनमेंसे आमण्ड एवं ब्लोण्डल के वर्गीकरण इस प्रकार है-

आमण्ड का वर्गीकरण:- आमण्ड ने दबाव समूहों को चार भागों मेंबाँटा। उसके वर्गीकरण को अनेक विद्वानों के साथ हिचनर एवं लेवाइन ने स्वीकार किया। आमण्ड ने हित समूह (दबाव समूह) को चार भागों मेंबांटा:-

1.संस्थागत हित समूहः- सेना, पुलिस, प्रशासनिक अधिकारियों के संगठन

2.प्रदर्शनात्मक या उद्दण्ड हित समूहः- हिंसक , सविंधान विरूद्ध कार्य करने वाले

3.साहचर्य हित समूह:-व्यापारी संघ,किसान संघ, मजदूर संघ आदि

4.असाहचर्य हित समूहः- ब्राहमण महासभा, क्षत्रिय महासभा, सुन्नी वक्फ बोर्ड

जीन ब्लौण्डेल का वर्गीकरणः-

1.सामुदायिक हित समूह

- रूढ़िगत ; Customary Pressure Group - क्षत्रिय महासभा जाट संघ
- संस्थागत ; Institutional Pressure Group. सैनिक कल्याण परिषद, कर्मचारी संघ

2.साहचर्य हित समूह

- संरक्षात्मक -श्रमिक, व्यापारिक संघ
- उत्थानात्मक ; - गौ-रक्षा, नारी कल्याण

उपरोक्त दो वर्गीकरण को देखने के बाद दबाव समूह के निम्न प्रकार बनाये जा सकते हैः-

दबाव समूह के प्रकारः-

1.संस्थानात्मक दबाव समूहः- संस्थानात्मक दबाव समूह वह होते हैं जिनका अपना संगठनात्मक ढांचा होता है जो किसी न किसी संस्था से जुडे होते हैं। ऐसे दबाव समूह मेंमुख्य रूप से सेना, पुलिस नौकरशाही जैसे विभिन्न संस्थान आते हैं। ये विभिन्न संस्थानों मेंकार्य कर रहे लोगों को अपने हित मेंबनाया समूह होता है। इनके सदस्य इनके साथ अन्य समूहों की सदस्यता भी लेते हैं। भारत मेंऐसे दबाव समूह मुख्य रूप से भारतीय पुलिस सेवा संघ, सैनिक कल्याण परिषद, भारतीय प्रशासनिक अधिकारी संघ प्रमुख हैं।

2.समुदायात्मक दबाव समूहः- समुदायात्मक संघ मुख्य रूप से अपने समुदाय विशेष के हितों की पूर्ति के लिये संगठित होते हैं। ये स्वतन्त्र होते हैं। ये किसी अन्य संस्था से जुड़े हो सकते हैं। ये मुख्य रूप से एक साथ एक व्यवसाय करने से बने समूह होते हैं। इनमें मुख्य रूप से व्यापारी संघ, किसान संघ, मजदूर संघ आदि आते हैं।

3.असमुदायात्मक दबाव समूहः- इस समूह की मुख्य प्रेरक शक्ति जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्र, अथवा रक्त समूह होता है। ये स्वतः स्फूर्त समूह होते हैं। प्रायः यह संगठित नहीं होते। ये बेहद प्राचीन समय से अस्तित्व मेंहैं। इस समूह के पीछे अदृश्य रूप से समाज के परम्परागत मूल्य बन्धन का कार्य करते हैं। इसमेंमुख्य रूप से क्षत्रिय महासभा, कायस्थ महासभा, सुन्नी वक्फ बोर्ड आदि है।

4.उद्दण्ड या प्रदर्शनकारी दबाव समूहः- यह मुख्य रूप से वह समूह है जो अपनी मांगों को लेकर हिंसक और संविधान विरूद्ध कार्य करने लगते हैं। वे अपनी मांगों को लेकर हड़ताल, धरना प्रदर्शन, अनशन, सार्वजनिक सम्पति को नुकसान पहुंचाना, रोड ब्लाक, आगजनी आदि का सहारा लेते हैं। वे इस अमर्यादित आचरण से शासन पर दबाव बनाने का प्रयास करते हैं।

इस प्रकार से कहा जा सकता है कि दबाव समूहों का स्थान विभिन्न शासन प्रणालियों मेंबेहद मजबूत है। प्रारम्भ मेंइन्हें अनैतिक, आदर्शों के विरूद्ध एवं लोकतन्त्र को नष्ट करने वाला माना गया।
समय के साथ राज्य के क्षेत्र, जनसंख्या एवं कार्य बढ़ने से राजनीतिक दलों की लोगों तक पहुँचने मेंअसमर्थता तथा लोगों की बढ़ती महत्वाकांक्षा एवं जागरूकता ने राजनीतिक रूप से दबाव समूह को जन्म दिया। आज लोकतन्त्र की कल्पना भी उनके बिना नहीं हो सकती। वे सूचनायें एकत्रित एवं प्रसारित करते हैं, सरकारों पर नियन्यत्र रखते हैं, व्यवसायिक प्रतिनिधित्व की कमी को पूरा करते हैं, सरकार एवं जनता के बीच कड़ी का काम करते हैं। वे विधानमण्डल के पीछे विधानमण्डल के समान है। कतिपय यही कारण है कि फाइनर ने उन्हें 'अज्ञात साम्राज्य' कहा।

अभ्यास प्रश्न-

1. यह कथन किसका है कि ''जब कभी दो या दो से अधिक व्यक्ति एकत्रित होते हैं और एक-दूसरे पर प्रभाव डालते हैं तो सामाजिक समूह का निर्माण होता है।''
2. किसी भी राजनीतिक व्यवस्था के मुख्य दायित्वों में क्या दायित्व प्रमुख होता है?
3. आज विश्व में मुख्य रूप से किस तरह ही राज-व्यवस्थाऐं प्रचलन में हैं?

10.8 सारांश

इस इकाई में हमने हित समूह के अर्थ एवं प्रकृति का अध्ययन किया है। इसके साथ ही साथ हमने इस बात का भी अध्ययन किया है कि नीति-निर्माण प्रक्रिया में किस प्रकार से ये प्रभाव डालते हैं। हमने इस बात का भी अध्ययन किया है कि शासन की प्रकृति तथा हित समूह की प्रकृति दोनों ही नीति-निर्माण में हित समूह की स्थिति को प्रभावित करते हैं। इसमें हमने यह अध्ययन किया है कि यदि हित समूह संगठित है तो वह नीति-निर्माण करने वाली संस्थाओं, संगठनों और अभिकरणों को अपने हितों के अनुरूप नीति-निर्माण के लिए सफलता पूर्वक प्रभावित करते हैं। जैसे औद्योगिक हितों से सम्बन्धित हित समूह। ये हित समूह बहुत ही प्रभावशाली होते हैं, क्योंकि जहाँ पर लोकतांत्रिक शासन होता है,वहाँ पर चुनाव में ये राजनीतिक दलों को चन्दे के रूप में आर्थिक सहायता प्रदान करते हैं, जिससे वे राजनीतिक दल उनके हितों के अनुरूप नीतियों के निर्माण हेतु प्रयास करते हैं। यहाँ हमने यह भी अध्ययन किया कि भारत में लोकतंत्र है, जिसका लक्ष्य सामाजिक और आर्थिक न्याय की स्थापना करना है। परन्तु आज भी किसानों और मजदूरों के हितों के अनुरूप नीतियां बनाने का कार्य प्राथमिकता के आधार पर नहीं किया जा सका है। अभी तक नीतियों के निर्माण की प्रवृत्ति संगठित क्षेत्र के हित समूहों के अनुकूल रही है। परन्तु असंगठित क्षेत्र के हित समूहों के हितों को दीर्घकालिक रूप से नजर-अन्दाज नहीं कर पायेंगे, क्योंकि यह हमारे देश में बहुसंख्यक हैं। लोकतंत्र में बहुसंख्यक के हितों पर भी नीति-निर्माण का दबाव लगातार बनाता रहेगा, क्योंकि चुनाव में जीत के लिए इनके समर्थन की आवश्यकता होगी।

10.9 शब्दावली

समूह- दो या दो से अधिक व्यक्ति, जिनमें परस्पर अन्त:क्रिया हो और वे एक-दूसरे को प्रभावित करते हों।
लोकतंत्र- वह शासन जिसमें राज्य के नागरिकों की भागीदारी रहती है।
संसदीय शासन- जहाँ कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। जो उत्तरदायी शासन होता है, क्योंकि इसमें जनता अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करती है। उन्हीं में से मंत्रीपरिषद के सदस्य नियुक्त किये जाते हैं।

अधिनायकवाद- अंग्रेजी में इसे 'Totalitarianism'कहते हैं। अधिनायकवाद, शासन का वह रूप है जिसमें जिसमें शासन-सत्ता एक व्यक्ति या स्थान पर केन्द्रीत होती है।

10.10अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. आगबर्न और निमकाफ **2.** नीति-निर्माण **3.** लोकतान्त्रिक और अधिनायकवादी।

10.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाऐं, सी0बी0 गेना।
2. तुलनात्मक राजनीति, जे0सी0 जौहरी।
3. भारत का संविधान- एक परिचय, डी0डी0 बसु।
4. आधुनिक राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त, जे0सी0 जौहरी।
5. ईपीए- 06 लोक नीति-निर्माण मुख्य निर्धारक, बुकलेट-4, इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।
6. समाजशास्त्र: अवधारणाऐं एवं सिद्धान्त, जे0पी0 सिंह।

10.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. तुलनात्मक राजनीति, पी0डी0 शर्मा।
2. भारत का संविधान, ब्रज किशोर शर्मा।

10.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1. हित समूह सेआप क्यासमझते हैं? नीति-निर्माण में इनकी भूमिका की विवेचना कीजिये।
2. हित समूह क्या हैं? हित समूह और लोक नीति में क्या सम्बन्ध है?
3. दबाव समूह के विभिन्न वर्गीकरणों स्पष्ट करते हुए वर्तमान राजनीतिक व्यवस्थाओं में उनकी भूमिका स्पष्ट कीजिये।

इकाई- 11 राजनीतिक दल एवं नीति-निर्माण

इकाई की संरचना

11.0 प्रस्तावना
11.1 उद्देश्य
11.2 राजनीतिक दल: अर्थ एवं महत्व
11.3 राजनीतिक दल की विशेषताऐं
11.4 राजनीतिक दल एवं नीति-निर्माण
11.5 सारांश
11.6 शब्दावली
11.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
11.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
11.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
11.10 निबन्धात्मक प्रश्न

11.0 प्रस्तावना

इस इकाई में हम राजनीतिक दल का अध्ययन एक विशेष सन्दर्भ में करेंगे। जिसमें हम यह देखेंगे कि राजनीतिक दल किस प्रकार से नीति-निर्माण में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं। जहाँ तक राजनीतिक दल की बात है,तो यह व्यक्तियों का एक समूह होता है,जो कुछ निश्चित सिद्धान्तों पर सहमत होते हैं और चुनाव प्रक्रिया में भाग लेकर सत्ता प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं, जिससे वे नीतियों का निर्माण कर सके और उन्हें लागू कर सके। यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि राजनीतिक दल जब सत्ता में नहीं होते तो सत्ता को प्रभावित कर अपने हितों के अनुरूप नीतियों के निर्माण के लिए सत्ता पर दबाव डालते हैं, साथ ही सत्ता प्राप्ति का प्रयत्न भी करते रहते हैं। सत्ता प्राप्ति के उपरान्त एक तरफ नीतियों के निर्माण और क्रियान्वयन की जिम्मेदारी का निर्वहन करते हैं तो दूसरी तरफ सत्ता में बने रहने का प्रयत्न भी जारी रखते हैं। ये राजनीतिक दल अपेक्षाकृत स्थायी संगठन होते हैं। सदस्य की भर्ती होती है, मृत्यु होती है, वे चले भी जाते हैं, लेकिन रानीतिक दल का अस्तित्व बना रहता है। प्रस्तुत इकाई में हम भारत जैसे लोकतान्त्रिक देश में नीति-निर्माण में राजनीतिक दलों की भूमिका का अध्ययन करेंगे। जिसमें यह देखेगें कि उनकी नीतियों के निर्माण के पीछे कौन से बुनियादी तत्व कार्य करते हैं।

11.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- राजनीति दल का अर्थ, महत्व और विशेषता को समझ सकेंगे।
- लोकतन्त्र में राजनीतिक दलों के कार्यशैली को भी जान सकेंगे।
- नीति निर्माण में राजनीतिक दलों की भूमिका और महत्ता का अध्ययन कर सकेंगे।

11.2 राजनीतिक दलः अर्थ एवं महत्व

आधुनिक समय को यदि हम लोकतन्त्र के युग के रूप में परिभाषित करें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी, क्योंकि शासन की प्रकृति कोई भी हो सभी अपने को लोकतान्त्रिक ही बताने का प्रयास करते हैं।

आधुनिक लोकतन्त्र को गतिशील यदि कोई करता है तो वह राजनीतिक दल है, क्योंकि राजनीतिक दलों के माध्यम से ही इसको संचालित किया जाता है। इस सन्दर्भ में लोकतन्त्र की एक सामान्य परिभाषा देना आवश्यक है। ''लोकतन्त्र वह शासन है,जहाँ सम्बन्धित देश के समस्त नागरिकों को चुनाव में भाग लेने (अपने प्रतिनिधि को चुनने/स्वयं प्रतिनिधि के रूप में चुने जाने) की स्वतन्त्रता रखते हों। साथ ही यह चुनाव नियतकालिक हो,जो विभिन्न राजनीतिक दलों की उपस्थिति में हों। जहाँ निर्णय बहुमत से लिए जाएं, लेकिन अल्पमत के हित के सुरक्षा की भी गारण्टी हो।''इस प्रकार हम देखते हैं कि राजनीतिक दल की लोकतन्त्र में बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इसलिए इसके अर्थ को समझना नितान्त आवश्यक है। यद्यपि जैसा कि माइकेल कर्टिस ने कहा है कि राजनीतिक दल की सही परिभाषा करना बहुत ही कठिन कार्य है, क्योंकि इस पर उदारवादी और मार्क्सवादियों में पर्याप्त मतभेद हैं। फिर भी कुछ महत्वपूर्ण परिभाषाओं का अध्ययन कर निष्कर्ष निकालना आसान होगा।

बर्क के अनुसार,''राजनीतिक दल एकताबद्ध लोगों का ऐसा निकाय है,जो किन्हीं विशेष सिद्धान्तों पर राष्ट्रीय हित को बढ़ावा देने के लिए सहमत होते हैं।''

डिजरायली ने कुछ निश्चित सिद्धान्तों का अनुशरण करने के लिए एकीकृत व्यक्तियों के समूह के रूप में राजनीतिक दल को परिभाषित किया है।

लॉ पालोम्बरा ने लिखा है कि,''राजनीतिक दल एक औपचारिक संगठन है, जिसका स्वचेतन व प्रमुख उद्देश्य ऐसे व्यक्तियों को सार्वजनिक पदों पर पहुँचना व उन पर बनाए रखना है, जो अकेले या किसी से मिलकर शासनतन्त्र पर नियंत्रण रखेंगे।''

इस प्रकार राजनीतिक दल एक औपचारिक संगठन है, जो जनता को शिक्षित करता है, सार्वजनिक पद के लिए उनकी भर्ती करता है, तथा उन्हें पद प्राप्ति के लिए प्रोत्साहित करता है और जनता और शासन के निर्णयकर्ताओं के बीच सम्बन्ध बनाए रखने का महत्वपूर्ण कार्य करता है। उक्त परिभाषाओं के आधार पर राजनीतिक दल के कुछ महत्वपूर्ण तत्व कहे जा सकते हैं। जैसे-

1. यह व्यक्तियों का ऐसा संगठन है,जो लोकहित और लोक नीति के विषय पर सहमत होते हैं।
2. ये सत्ता संघर्ष की प्रक्रिया में भाग लेते हैं अर्थात सत्ता में नहीं रहने पर सत्ता प्राप्त करने के लिए संघर्षरत रहते हैं। सत्ता प्राप्त होने पर उसे बनाए रखने का प्रयत्न करते हैं, ताकि लोकहित के मुद्दे पर लोक नीति का निर्माण कर जनकल्याण के दायित्व का निर्वहन कर सकें।

भारत एक लोकतान्त्रिक देश है, जहाँ नियतकालिक चुनाव की व्यवस्था है, जिसमें वयस्क भारतीय नागरिक (18 वर्ष के) मतदान में भाग लेकर अपनी सक्रिय भूमिका का निर्वाह करते हैं। वे मतदान किसी दल को करते हैं, जिससे वह बहुमत प्राप्त कर सकें और सत्ता को धारण कर सरकार का कुशल संचालन करते हुए लोकहित में लोक नीति का निर्माण कर सकें तथा उनका सफलतापूर्वक क्रियान्वयन भी सुनिश्चित कर सकें। इस प्रकार से भारत के साथ ऐसा कोई भी देश जहाँ पर लोकतन्त्र है,वहाँ पर राजनीतिक दल उसे गतिशील करने में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती हैं।

11.3 राजनीतिक दल की विशेषताऐं

यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि हर प्रकार का राजनीतिक संगठन राजनीतिक दल नहीं होता है। राजनीतिक दल के लिएएक मूल तत्व तो यह होता है कि यह सत्ता प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। जिन राजनीतिक दलों को जब सत्ता प्राप्त हो जाए तो वह, सत्ता में बने रहने के लिए और अन्ततः समूहों और संगठनों पर अपना प्रभाव स्थापित करने का निरन्तर प्रयास भी करते हैं। इस प्रकार से सत्ता प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयासरत/प्राप्त सत्ता में बने रहने के लिए संघर्ष राजनीतिक दल का मूलभूत लक्षण माना जाता है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि किसी भी प्रकार से सत्ता प्राप्त करने वाले समूह या संगठन को राजनीतिक दल कहेंगे। फिर लोकतान्त्रिक शासन में तो यह और भी सम्भव नहीं है,क्योंकि राजनीतिक दल तो अपनी नीतियों और कार्यक्रम के साथ अपने प्रत्याशियों के माध्यम से जनता के बीच जाते हैं और जन समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। ताकि वे अपनी जीत के उपरान्त सत्ता प्राप्त करउन नीतियों और कार्यक्रमों को व्यवहारिक रूप दे सकें।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि राजनीतिक दल एक अलग प्रकार का संगठन होता है जो प्रतियोगी राजनीतिक दलों (चुनाव में कई राजनीतिक दलों का भाग लेना) की उपस्थित में अपनी नीतियों तथा कार्यक्रमों के माध्यम से जन समर्थन प्राप्त कर सत्ता प्राप्ति करने का प्रयत्न करते हैं। यही विशेषताएं राजनीतिक दल को अन्य संगठनों से भिन्न करती हैं। लापालोम्बरा तथा माइनरवीनर ने किसी समूह को राजनीतिक दल कहने के लिए उसमें चार विशेषताओं को अनिवार्य मानते हैं-

1. राजनीतिक दलों मेंसंगठन की निरन्तरता,का तात्पर्य है कि राजनीतिक दल का एक संगठन के रूप में कार्यकालउसके सदस्यों की अपेक्षा अधिक होता है, क्योंकि दल में सदस्य तो आते-जाते रहते हैं। कोई सदस्य आजीवन के लिए बनता है, कुछ लोग दल छोड़कर जाते भी हैं, कुछ लोग आते भी हैं। परन्तु दल के अस्तित्व पर इसका फर्क नहीं पड़ता है।
2. स्थानीय स्तर पर अन्य संगठनों की अपेक्षा यह स्थायी संगठन भी होता है।
3. तीसरी प्रमुख विशेषता यह है कि यह स्थानीय और राष्ट्रीय दोनों ही स्तरों पर सत्ता को प्रभावित करने, सत्ता को प्राप्त करने और प्राप्त की हुई सत्ता में बने रहने के लिए संकल्पबद्ध होते हैं। जैसे यदि भारत का उदाहरण ले तो हमें दिखाई देता है कि कोई दल जो सत्ता से बाहर होता है,वह जनहित के मुद्दे उठाकर सत्ता को प्रभावित कर उसकी सिद्धि (प्राप्त करने) का प्रयास करते हैं,क्योंकि इस प्रयास में उनकी सफलता से ही उनको जनसमर्थन (लोगों का समर्थन) प्राप्त होता है और वे चुनाव प्रक्रिया में विजयी होकर सत्ता प्राप्त करते हैं। जब एक बार सत्ता प्राप्त हो जाती है तो वे अपनी नीतियों और कार्यक्रमों के द्वारा जनसामान्य की आकांक्षाओं को पूरा करने और अपेक्षाओं पर खरा उतरने का प्रयत्न करते हैं, ताकि उन्हें अगले चुनाव में पुनः जनसमर्थन प्राप्त हो सके और वे सत्ता में बने रह सके।
4. जैसा कि हमने ऊपर यह स्पष्ट किया है कि राजनीतिक दल सत्ता को प्राप्त करने और सत्ता में बने रहने के लिए, सतत् प्रयत्नशील रहते हैं। लेकिन इनकी सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि इन्हें किस स्तर का और किस मात्रा में जनसमर्थन प्राप्त हो रहा है? इसलिए ये जनसमर्थन को प्राप्त करने का निरन्तर प्रयास करते हैं। इस प्रयास में ये दल सर्वप्रथम इस बात का निश्चय करते हैं कि वे कौन सी जन आकांक्षाएं व अपेक्षाएं हैं जो ज्यादा से ज्यादा लोगों की हैं? उन्हें वे शीघ्रता से, नीति बनाकर पूरा करने का प्रयत्न करते हैं,जिससे उनको जनसमर्थन का दायरा बढ़ाने का अवसर प्राप्त हो। इसी क्रम में एक बात और स्पष्ट करना आवश्यक है कि, उक्त के कारण वे मांगे (जनता की मागें) राजनीतिक व्यवस्था के द्वारा स्वीकार नहीं हो

पाती हैं या अपेक्षाकृत देर से स्वीकार की जाती हैं जो बहुत कम लोगों से जुड़ी हों। यह पूरी प्रक्रिया दल के माध्यम से ही आगे बढ़ती है। इसलिए राजनीतिक व्यवस्था में, विशेषरूप से जहाँ पर लोकतन्त्र हो,वहाँ निश्चित रूप से राजनीतिक दल के माध्यम से ही आगे बढ़ती है। इसलिए आज के इस लोकतन्त्र के दौर में तो राजनीतिक दल की आवश्यकता और महत्ता बहुत बढ़ जाती है।

11.4 राजनीतिक दल एवं नीति-निर्माण

इस इकाई के इस चरण में हम इस बात का अध्ययन करेंगे किनीति-निर्माण में राजनीतिक दल का क्या योगदान होता है? अर्थात राजनीतिक दल नीति-निर्माण में कितनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं और किस प्रकार से। यहाँ एक तथ्य और महत्वपूर्ण है कि भारत जैसे लोकतान्त्रिक देश में तो नीति-निर्माण में अर्थात राज्य की दिशा तय करने में भी बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं। जैसे जब भारत 15 अगस्त 1947 को आजाद हुआ तो उस समय काँग्रेस पार्टी की सरकार बनी। इस दल और इसके नेतृत्व में संचालित सरकार के समक्ष भारत को एक नई दिशा देने की चुनौती थी। वह चुनौती थी एक न्यायसंगत समाज को स्थापित करने की दिशा में कार्य करना, जिससे देश के सभी जाति, धर्म, क्षेत्र, भाषा, लिंग आदि पर आधारित विभिन्न समुदायों के बीच की असमानता को कम करने के लिए कार्य करना। इसके साथ-साथ व्यक्तियों के बीच बढ़ रही असमानता और शोषण जनित सम्बन्ध को समाप्त करना।

यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि उस समय इन उद्दश्यों की सिद्धि के लिए एक तरफ दीर्घकालिक नीतियों और कार्यक्रमों की आवश्यकता थी,दूसरी तरफ इस बात की भी आवश्यकता थी कि परम्परागत भारतीय समाज में पायी जाने वाली सामाजिक और आर्थिक निर्योग्यताओं को समाप्त किया जाए।

1. इन उद्दश्यों की सिद्धि की मंशा की छाप तत्कालीन भारत में प्रभावशाली राजनीतिक दल (भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस) के प्रत्येक निर्णय और कार्य में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। इसीलिए भारतीय संविधान के उपबंधों में स्पष्ट रूप से काँग्रेस की नियत, एक दीर्घकालिक नीति के रूप में दिखाई दे रही है। दूसरे शब्दों में किस प्रकार का शासन है, उसका जबाव था कि संसदीय लोकतन्त्र अंग्रेजी शासन में विशेषाधिकारयुक्त-वर्ग और जातियाँ थीं। परन्तु इस संविधान में सबको समान स्वीकार करते हुए विशेषाधिकार का अन्त किया। जैसे संविधान की प्रस्तावना जहाँ एक तरफ की प्रस्तावना में यह घोषणा शामिल है कि इस संविधान को भारत के लोग अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं। इसका तात्पर्य है कि देश की सर्वोच्च निधि अर्थात भारतीय संविधान को भारत के लोग स्वीकार करते हैं और अधिक स्पष्टतया कहें तो देश की सत्ता अन्ततः जनता के पास है। इसी के साथ देश को समाजवादी, पंथनिरपेक्ष, लोकतन्त्रात्मक गणराज्य होने की घोषणा करती है। यहाँ समाजवाद का अर्थ है कि राज्य लोगों के बीच आय की असमानताओं को न्यूनतम करने का प्रयास करेगा। इसी प्रयास के अगले चरण अर्थात पूरक के रूप में मिश्रित अर्थव्यवस्था को अपनाने पर बल दिया। मिश्रित अर्थव्यवस्था वह होती है, जिसमें पूँजीवादी और समाजवादी अर्थव्यवस्था दोनों के तत्व पाये जाऐं। पूँजीवाद में जहाँ निजी-सम्पत्ति और प्रतिस्पर्द्धा को प्राथमिकता देता है,तो समाजवादी अर्थव्यवस्था में राज्य आधारित आर्थिक/राज्य निमंत्रित आर्थिक गतिविधियाँ होती हैं, जिसका उद्देश्यन्यूनतम जीवन-स्तर सभी को उपलब्ध कराने की प्राथमिकता। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए योजनाबद्ध तरीके से देश को प्रगति के पथ पर आगे बढ़ाने के उद्देश्य से पंचवर्षीय योजनाओं की शुरूआत भी की गई। इसी क्रम में यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि तत्कालीन समय में देश के विकास और समृद्धि को दिशा देने के लिए दो मॉडल (प्रतिरूप) थे। एक

था भारी उद्योगों पर आधारित और दूसरा था गांधीवादी मॉडल,जो लघुउद्योगों पर आधारित देश की जरूरतों (रोजगार सृजन हेतु) के अनुरूप विकेन्द्रीकृत अर्थ-व्यवस्था/तत्कालीन राजनीतिक दल,भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस और उसके नेता पं0 जवाहरलाल नेहरू ने भारी उद्योगों को आगे बढ़ाने का निर्णय लिया और उसके पोषण और सम्बर्द्धन हेतु नीतियाँ बनायी। इसके साथ ही राज्य आधारित उद्योगों को आगे बढ़ाने का भी निर्णय लिया। अर्थात ऐसी आर्थिक संरचना जो निजी क्षेत्र के साथ सार्वजनिक क्षेत्र को समान महत्व प्रदान करता था। परन्तु प्रधानमन्त्री राजीव गाँधी के आते-आते राष्ट्रीय माँग और अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण में कुछ परिवर्तन आया। अर्थात देश की प्रगति के साथ दुनियाँ के साथ कदम से कदम मिलाकर चलने की मंशा से प्रधानमन्त्री राजीव गाँधी ने निजी क्षेत्र का महत्व देना प्रारम्भ किया। जिसे नीति में बदलाव के रूप में देखा जा रहा था,क्योंकि समाजवादी विचारधारा से प्रेरित भारतीय राजनीतिक दल इसका विरोध कर रहे थे। सन्1991 तक आते-आते भारत की आर्थिक स्थिति बहुत खराब हो गई, जिससे तत्कालीन भारत सरकार जिसका नेतृत्व काँग्रेस पार्टी कर रही थी,उसने बड़े पैमाने पर आर्थिक सुधार की नीति को लागू करने का निश्चय किया,जिससे कि देश में समृद्धि के बड़े लक्ष्य का प्राप्त कर आगे बढ़ा जा सकेऔर देश की जरूरतें पूरी की जा सकें। इस आर्थिक सुधार को लागू करने का तात्पर्य था कि देश को भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया से जोड़ने के लिए नियमों को उदार और शिथिल करना जिससे निजी क्षेत्र को स्वतन्त्र प्रतिस्पर्द्धा का अवसर प्राप्त हो और सभी राष्ट्रों को विकास का अवसर तथा समान लाभ प्राप्त हो सके।

इस नीति से कुछ चिंताएं भी सामने आयी कि कहीं ऐसा ना हो कि लाभप्रेरित व्यावसायिक स्वतन्त्र गतिविधियों से आम जन-मानस हाशिये पर ना चला जाए,क्योंकि भारत जैसे देश में जहाँ गरीबी और अभाव बड़े पैमाने पर दिखाई देता है तो सवाल उठता है कि उनके हितों पर क्या प्रभाव पड़ेगा? इन शंकाओं को लेकर बार-बार इन उदारवादी नीतियों और कार्यक्रमों की भारत के समाजवादी/साम्यवादी दलों के द्वारा अनवरत आलोचना भी की गई।

लेकिन इन आलोचनाओं को दरकिनार करते हुए सरकार ने इसे आगे बढ़ाने का निश्चय किया। इसके साथ ही साथ भारत सरकार ने कल्याणकारी नीतियों को जारी रखने का निश्चय किया,क्योंकि उदारीकरण, भूमण्डलीकरण और निजीकरण को आगे बढ़ाने वाले देशों की सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियाँ भारत से भिन्न हैं। जहाँ गरीबी अत्यन्त कम है तथा जो है भी उनके बड़े मानदण्ड पर है। अर्थात विकसित देशों में गरीबी की परिभाषा का पैमाना, भारत से बेहतर है।यद्यिप भारत के द्वारा चालू की गई कल्याणकारी नीतियों की आलोचना विकसित देश लगातार करते रहे कि इस तरह के कार्यक्रमों को संचालित करने से राज्य को बचना होगा।

भारत में इन आलोचनाओं के बावजूद मिड-डे मील योजना प्रारम्भ की जिसे प्राथमिक स्तर तक के विद्यालयों में मध्यान्ह् का भोजन बच्चों को निःशुल्क देने की व्यवस्था की। जिसका उद्देश्य था बच्चों को कुपोषण से बचाना और स्कूल में उनकी उपस्थिति सुनिश्चित करना। इसके साथ-साथ गरीब और अति-गरीब परिवारों के लिए अन्तयोदय, अन्नपूर्णा योजना के तहत बहुत ही कम दाम पर खाद्यान्न की योजना शुरू की गई,क्योंकि भारत चाहता था कि विकास का लाभ, देश में अभी तक मुख्यधारा से वंचित व्यक्तियों और परिवारों तक पहुँचाना सुनिश्चित किया जाए। इसके साथ आगनबाड़ी कार्यक्रम, वृद्धावस्था पेंशन, विधवा पेंशन, गैस सब्सिडी आदि।

एक बार पुनः स्पष्ट करना चाहते हैं कि इन नीतियों/कार्यक्रमों की भूमण्डलीकरण के प्रणेता, प्रचारक, नेता आलोचना कर रहे थे। परन्तु उनकी नियत की पोल तब खुली जब 21वीं सदी के प्रारम्भ में वे आर्थिक मंदी के शिकार हुए उस समय इन देशों की नियत साफ हो गयी। अमेरिका ने जिन संस्थाओं और उद्यमों को मंदी से उबारने के लिए आर्थिक पैकेज दिये उसके साथ शर्त रखी किवे अपने यहाँ रोजगार अमेरिकियों को देंगे। फ्रान्स ने अपनी

मोटर कम्पनियों को कहा कि वे उनका उत्पादन विदेश में ना कर फ्रान्स में ही करें,जिससे वहाँ रोजगार सृजन हो और निर्यात बढ़े। ब्रिटेन में रोजगार ब्रिटेन वालों के लिए,इसी प्रकार के प्रयास आस्ट्रेलिया में भी किये गये। इस प्रकार स्पष्ट हे कि भारत ही नहीं कोई भी देश विकसित या विकासशील वह अपनी नीतियों के निर्माण में अपने देश की सामाजिक-आर्थिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए नीतियों का निर्माण करते हैं और उनको लागू करते हैं,जिससे देश के सभी तबकों को देश की मुख्यधारा से जोड़ा जा सके और विकास प्रक्रिया में उनका योगदान सुनिश्चित किया जा सके।

यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि कोई भी दल भारत में सत्ता में रहा है,नीतियों के निर्माण और उसके क्रियान्वयन में उनकी प्रवृति/रूझान लगभग समान ही रहा है,क्योंकि समय-समय पर जहाँ सभी ने देश में आर्थिक समृद्धि को बढ़ाने के लिए निजी क्षेत्र को महत्व दिया तो एक न्याय संगत समाज की स्थापना के लिए कल्याणकारी नीतियों और कार्यक्रमों को भी आगे बढ़ाने का भी कार्य किया है। क्योंकि भारतीय संविधान के द्वारा सामाजिक-आर्थिक न्याय को लक्ष्य बनाया गया है,जिसके अनुपालन में भारत में राजनीतिक दलों ने आर्थिक समृद्धि के साथ कल्याणकारी नीतियों और सशक्तीकरण की नीतियों को महत्व दिया है।

अभ्यास प्रश्न-

1. लापालोम्बरा तथा माइनरवीनर ने किसी समूह को राजनीतिक दल कहने के लिए उसमें कितने प्रकार की विशेषताओं को अनिवार्य मानते हैं?
2. पंचवर्षीय योजनाओं की शुरूआत किस उद्देश्य से की गई?

11.5 सारांश

इस इकाई के अध्ययन में हमने राजनीतिक दल के अर्थ और विशेषताओं का अध्ययन किया है। जिसमें हमने यह पाया है कि राजनीतिक दल व्यक्तियों का एक ऐसा समूह होता है जो कुछ निश्चित सिद्धान्तों पर सहमत होते हैं। जिनका उद्देश्य होता है सत्ता को प्रभावित करना, सत्ता को प्राप्त करना और प्राप्त सत्ता में बने रहना। इन सबका उद्देश्य होता है जन-सामान्य के हितों की पूर्ति के कार्य करना,जिससे कि अपने जनधार का विस्तार कर सकें और सत्ता में बने रहें।

जन आकांक्षाओं और अपेक्षाओं की पूर्ति में राजनीतिक दल नीतियों को बनाकरऔर उन नीतियों को क्रियान्वित करते हैं। इस प्रकार किसी देश में नीतियों के निर्माण में राजनीतिक दल बहुत ही अहम भूमिका का निर्वाह करते हैं। भारत में आजादी के बाद भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पार्टी ने देश की आवश्यकताओं के अनुरूप जैसा कि हम ऊपर अध्ययन कर चुके हैं, मिश्रित अर्थव्यवस्था को अपनाया तथा सामाजिक आर्थिक विकास और परिवर्तन के लिए नियोजित पंचवर्षीय योजनाओं की शुरूआत की। बाद में भी इस क्रम को जारी करते हुए उदारीकरण और निजीकरण को महत्व दिया गया। परन्तु देश की आवश्यकताओं को देखते हुए जन-कल्याणकारी और जन-सशक्तीकरण नीतियों के निर्माण और उस पर कार्यवाही को भी भारत में राजनीतिक दलों ने महत्ता दी है।

11.6 शब्दावली

लोकतन्त्र- वह शासन जो जनता का हो, जनता के लिए कार्य करे, जिसमें सभी जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्र को शासन में भागीदारी मिले। जिसमें निर्णय बहुमत से लिए जाएं परन्तु अल्पमत के हित के सुरक्षा की भी गारण्टी हो।

गणतन्त्र- जहाँ शासन प्रमुख, राज्य प्रमुख को वंशानुगत राजा ना होकर निर्वाचित व्यक्ति (भारत में राष्ट्रपति) हो।

भूमण्डलीकरण- विश्व की अर्थव्यवस्थाओं को एक दूसरे से जुड़ने की प्रक्रिया है।

मिश्रित अर्थव्यवस्था- जिस अर्थव्यवस्था में निजी क्षेत्र और सार्वजनिक क्षेत्र (सरकारी) दोनों का अस्तित्व हो।
कल्याणकारी नीतियाँ- ऐसी नीतियाँ जिसमें जनमानस को सहायता प्रदान की जाए, जिससे वे भी सम्मान जनक जीवन जी सके जैसे- अत्योदय, अन्नपूर्णा योजना, वृद्धावस्था पेंशन, विकलांग पेंशन, निःशुल्क स्वास्थ्य बीमा आदि

सशक्तकारी नीतियाँ- वे नीतियाँ जो जनमानस को अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने में सक्षम बनाए,जिससे वे राष्ट्र की मुख्यधारा में आत्मनिर्भरता के साथ जुड़ सकें। इस प्रकार हम पातें हैं कि भारत में राजनीतिक दलों ने देश की सामाजिक-आर्थिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए, जनमानस के कल्याण और उन्हें सशक्त बनाने के लिए विविध नीतियों का निर्माण किया। जिससे भारत का आम जनमानस भी देश की मुख्यधारा से जुड़ सके और देश में विकास और प्रगति का लाभ प्राप्त कर अपने जीवन स्तर को बढ़ा सके तथा राष्ट्र निर्माण में अपना रचनात्मक योगदान दे सके।

11.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.4,**2.** न्यूनतम जीवन-स्तर सभी को उपलब्ध कराने की प्राथमिकता

11.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाऐं, सी0 बी0 गेना।
2. तुलनात्मक राजनीति, जे0 सी0 जौहरी।
3. भारत का संविधान- एक परिचय, डी0 डी0 बसु।
4. आधुनिक राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त, जे0 सी0 जौहरी।
5. ईपीए- 06 लोक नीति निर्माण मुख्य निर्धारक, बुकलेट-4, इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।
6. समाजशास्त्र: अवधारणाऐं एवं सिद्धान्त, जे0 पी0 सिंह।

11.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. तुलनात्मक राजनीति, पी0 डी0 शर्मा।
2. भारत का संविधान,ब्रज किशोर शर्मा।

11.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. नीति-निर्माण में राजनीतिक दलों की भूमिका की विस्तार से चर्चा कीजिए।

इकाई- 12नीति-निष्पादन में सरकारी एजेन्सियों की भूमिका

इकाई की संरचना

12.0 प्रस्तावना
12.1 उद्देश्य
12.2 नीति-निष्पादन की प्रकृति एवं अर्थ
12.3 नीति-निष्पादन सम्बन्धी आवश्यक तत्व
12.4 प्रभावकारी नीति-निष्पादन की पूर्व शर्तें
12.5 नीति-निष्पादन में सरकारी एजेन्सियों की भूमिका
    12.5.1 नीति-निष्पादन में कार्यपालिका की भूमिका
    12.5.2 नीति-निष्पादन में न्याय पालिका एवं प्रशासनतंत्र की भूमिका
12.6 सारांश
12.7 शब्दावली
12.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
12.9सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
12.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
12.11निबन्धात्मकप्रश्न

12.0 प्रस्तावना

नीतियों का कार्यान्वयन उतना ही महत्वपूर्ण है,जितना कि उनका निर्माण। नीति-निष्पादन वह प्रक्रिया है,जिसके द्वारा एक नीति के लक्ष्य एवं प्रतिज्ञाऐं पूरे किए जाते हैं।नीति-निष्पादन एक प्रक्रिया है,जिसमें कई चरण शामिल हैं। सबसे पहला चरण नीति वक्तव्य/दस्तावेज का अध्ययन करना एवं समझना है। निष्पादन एवं कार्यान्वयन एजेन्सियां नीति दस्तावेज का गहन अध्ययन करते हैं तथा अस्पष्टता के बिन्दुओं और दिये गये बिन्दुओं पर स्पष्टीकरण की मांग करते हैं। इसके बाद नीति को विभिन्न खण्डों में बांटने का दूसरा चरण आता है। ऐसा करने के लिए लक्षित क्षेत्र समूह, आवश्यक साधनों, उपलब्ध साधनों, इत्यादि का विश्लेषण एवं निर्धारण आवश्यक है। साधनों का फैलाव नीति के विभिन्न विभाजित खण्डों के आधार पर किया जाता है। तीसरा चरण नीति के कार्यान्वयन से प्रभावित होने वाले व्यक्तियों के समूह तथा क्षेत्र में आवश्यक सूचनाऐं एवं आंकड़े इकट्ठा करने का है।
नीति निर्माण के लिए विधायिकाअधिकारिक एजेन्सी है तो नीतियों के निष्पादन के लिए कार्यपालिका अधिकारिक अंग है। नीतियों के कार्यान्वयन का कार्य, व्यवहार में प्रशासन-तंत्र ही करता हैं। प्रशासन विधायिका द्वारा निर्मित नीतियों को कार्यान्वित करने के लिए अपने अनुभव एवं विशेषता का इस्तेमाल करता है। तथापि विधायिका का नीति-निष्पादन में भी प्रशासन तंत्र के साथ अप्रत्यक्ष सम्बन्ध रहता है। जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि नीतियों के कार्यान्वयन के प्रति बहुत सेचत होते हैं। विधायिका के पास कई ऐसे साधन होते हैं,जिनके द्वारा वह प्रशासन-तंत्र को नीतियों को प्रभावी ढंग से एवं तीव्रता के साथ कार्यान्वित करने के लिए बाध्य कर सकती हैं।

नीति-निष्पादन में न्याय पालिका भी अपनी भूमिका निभाती है। ऐसा सामान्यतः तब होता है,जब नीति के उद्देश्य सुस्पष्ट नहीं होते तथा उस नीति की कई व्याख्याएं की जा सकती हैं। ऐसे मामलों में न्यायालय अपना निर्णय देते हैं तथा उनका निर्णय अन्तिम मान लिया जाता है।

वैसे तो नीति-निष्पादन सरकार का प्रमुख दायित्व है, फिर भी गैर-सरकारी एजेन्सियां जैसे- स्वैच्छिक संगठन, दबाव समूह एवं नागरिक भी नीति-निष्पादन प्रक्रिया में योगदान देते हैं। हाल के वर्षों में स्वैच्छिक सुरक्षा, गरीबों को कानूनी मदद, उपभोक्ता संरक्षण, मानव अधिकारों के संरक्षण, बाल कल्याण, इत्यादि में सक्रिय रूप से भाग लेते रहे हैं।

12.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- नीति-निष्पादन किस प्रकार होता है, यहजान पायेंगे।
- नीति-निष्पादन में कार्यपालिका की भूमिका को स्पष्ट कर सकेंगे।
- नीतियों का क्रियान्वयन किस प्रकार होता है, यहजान सकेंगे।

12.2 नीति-निष्पादन की प्रकृति एवं अर्थ

नीति सामान्य या विशिष्ट, व्यापक या सीमित, साधारण या जटिल, सार्वजनिक या व्यक्तिगत, लिखित या अलिखित, स्पष्ट या अन्तर्निहित, गुणात्मक या मात्रात्मक हो सकती है। नीति की प्रकृति चाहे कैसी भी हो,इसका मुख्य लक्ष्य सरकार के कार्यों के लिए निर्देशन प्रदान करना होता है। कई बार नीतियों द्वारा उत्पादन या प्रतिफल की मात्रा पर जोर दिया जाता है,तो दूसरी ओर उसके गुणात्मक पहलू पर। उदाहरणार्थ, भारत में शिक्षा के प्रसार के लिए चलाए गए अभियान में शिक्षितों की संख्या बढ़ाने पर ही जोर दिया गया, लेकिन अब यह पाया जा रहा है कि केवल शिक्षिकों की अधिक संख्या ही भारत की समस्याओं का हल प्रदान नहीं कर सकी,बल्कि अच्छी शिक्षा और उच्च कोटि की या व्यावसायिक शिक्षा पर बल देना चाहिए। यदि इन नीतियों का क्रियान्वयन शिक्षा आयोग द्वारा सम्पन्न नहीं हो तो अच्छी सेअच्छी नीति का कोई मतलब नहीं होता। वर्तमान राजनीतिक परिदृश्य में नीतियों के क्रियान्वयन में कार्यपालिका के साथ-साथ विभिन्न विभागों एवं उपविभागों की संलिप्तता पायी जाती है। संसदीय पद्धति वाले सभी देशों में सभी नीतियों को मंत्रीमण्डल का अनुमोदन प्राप्त करना पड़ता है और संसद में सभी महत्वपूर्ण नियम सरकार के मंत्रियों द्वारा ही प्रस्तुत किये जाते हैं। शासनतंत्र को सामान्यतः किसी भी देश में जैसा कि हम जानते हैं, तीन भागों में बांटा जाता है- विधानपालिका(विधायिका), कार्यपालिका और न्यायपालिका। विधानपालिका में जनता के प्रतिनिधि होते हैं। यह विधिनिर्माण के माध्यम से जनता की इच्छाओं को अभिव्यक्त करती है। इस विधिनिर्माण और जनइच्छा की अभिव्यक्ति के उपरान्त कार्यपालिका की भूमिका शुरू होती है। वह निर्मित विधि के आवरण में आवश्यक आदेशों को निर्गत करती है और विभागों, उपविभागों आदि के द्वारा विधि को क्रियान्वित करती है।

- नीति निष्पादक का अर्थ नीतियों के क्रियान्वयन से लिया जाता है। विधायिका नीतियों का निर्माण करती है तथा कार्यपालिका नीतियों का क्रियान्वयन अपने विभिन्न विभागों एवं उपविभागों के माध्यम से सम्पन्न करवाती है।

- संयुक्त राष्ट्र संघ के एक प्रकाशन के अनुसार एक वरिष्ठ प्रशासक विकासात्मक उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए नीति-निर्माण करने के लिए परामर्श प्रदान करने और क्रियान्वयन के लिए साधनों का संग्रहण, संगठन और प्रबन्ध करने के लिए उत्तरदायी होता है।
- परम्परागत दृष्टिकोण के अनुसार राजनीतिशास्त्र को सरकारी संस्थाओं के अध्ययन का केन्द्र–बिन्दु माना जाता है एवं राजनीतिक क्रियाओं का केन्द्र सरकारी संस्थाऐं- व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका, नगर पालिका, राजनीतिक दल एवं दबाव समूह इत्यादि होते हैं। व्यक्तियों एवं वर्गों की गतिविधियां भी सरकारी संस्थाओं द्वारा निर्देशित होती हैं। अतः सार्वजनिक नीति सत्तात्मक रूप से सरकारी संस्थाओं द्वारा निर्धारित तथा क्रियान्वित की जाती है। सार्वजनिक संस्थाओं एवं नीति में घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है। आधारभूत रूप में कोई नीति उस समय सार्वजनिक बन जाती है, जब सरकारी एजेन्सी द्वारा उसे ग्रहण कर लिया जाये और क्रियान्वित किया जाये। इडवर्ड ने नीति-क्रियान्वयन की परिभाषा करते हुए अभिव्यक्त किया है कि 'नीतिक्रियान्वयन नीति की स्थापना और सम्बन्धित जनता पर उसके प्रभाव के महत्व का वर्णन है।'
- नीतिक्रियान्वयन के सम्बन्ध में जिन अन्य विचारकों द्वारा गहन अध्ययन किया गया उनमें से रिपले और फ्रेंकलिन, बैरेट और फज, डनशायर, स्मिथ, चार्ल्स एवं ब्राडच के नाम उल्लेखनीय है। यद्यपि इन्होंनेनीति-क्रियान्वयन को भिन्न पहलू से देखने की चेष्टा की है। परन्तु सभी इस विचार से सहमत हैं कि नीति-क्रियान्वयन, नीति-निर्माण के स्तर से घनिष्ठ रूप से गुथा हुआ है। नीति के क्षेत्र में किए गए आरम्भिक अध्ययन केवल नीति-निर्माण पर संकेन्द्रित थे। इसी सन्दर्भमें पालुम्बो और मैनार्ड न्यूडी ने नीति सम्बन्धी क्रियान्वयन अन्तराल की चर्चा करते हुए यह अभिमत व्यक्त किया कि नीति-क्रियान्वयन पक्ष पर विशेष और पृथक ध्यान नहीं दिया गया। आज इस मत के सम्बन्ध में कोई मतभेद व्याप्त नहीं है कि क्रियान्वयन पक्ष नीति का अत्यन्त ही महत्वपूर्ण पक्ष है। नीति-निर्माण और नीतिक्रियान्वयन घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। नीति चाहे कितनी भी श्रेष्ठ क्यों ना हो, नीति द्वारा निर्धारित उद्देश्य चाहे कितने भी उत्तम क्यों न हो, तब तक प्राप्त नहीं किए जा सकते,जब तक कि उनको प्राप्त करने के लिए ईमानदारी और कुशलता से कार्यवाही ना की जाय।

12.3 नीति-क्रियान्वयन सम्बन्धी आवश्यक तत्व

नीति-क्रियान्वयन में नीति सम्बन्धीनिम्नलिखित सक्रियाऐं सम्मिलित होती है-

- उत्पादन करना- बिजली, इस्पात इत्यादि।
- निर्माण करना- भवन, पुल, सड़के इत्यादि।
- वितरण करना- खाद्य पदार्थ, जल, गैस, कोयला, बिजली आदि।
- संग्रहण या संचयन करना- सेवा सम्बन्धी फीस, राजस्व, खाद्य पदार्थ आदि।
- सेवा प्रदान करना- व्यावसायिक और तकनीकी कुशलता के लिए।
- जाग्रति उत्पन्न करना- नीति की सफलता के लिए सामान्य जनता या निर्दिष्ट वर्ग में चेतना उत्पन्न करना। जैसे जनसंख्या विस्फोट या पर्यावरण प्रदूषण।

उपर्युक्त क्रियाओं के लिए निम्नलिखित तत्वों की आवश्यकता होती है, जिनका निर्धारण नीति-निर्माण के दौरान की जाने वाले पूर्व योजना में ही करना अपेक्षित है।

1. **धन-** क्रियान्वयन का सम्बन्ध चाहे उत्पादन से हो या फिर निर्माण से या फिर वितरण से, प्रत्येक कार्य के लिए धन एक मौलिक आवश्यकता होती है। अतः यह आवश्यक है कि नीति-निष्पादन में अपेक्षित गतिविधियों सम्बन्धी धन का आंकलन किया जाय एवं उन स्रोतों को भी साथ में दर्शाया जाय।
2. **निष्पादन संरचना-** होगवुड और गुन्न, डनशायर नाकामुरा और स्मालवुड, कैडेन ने अन्य तत्वों के साथ-साथ संरचना को आवश्यक तत्व के रूप में स्वीकार किया है। नीति में निहित उद्देश्यों के अनुरूप संरचना को पहचानना आवश्यक है। यह संरचना सरकार में पूर्व स्थिति विभिन्न संरचनाओं में ही विद्यमान हो सकती है या फिर उसके लिए नवीन संस्था की स्थापना की जा सकती है। उदाहरणार्थ, यदि महिला विकास सम्बन्धी नीति अपनायी जाती है,तो उसे आसानी से महिला और बाल विकास विभाग को क्रियान्वयन के लिए सौंपा जा सकता है। परन्तु यदि यह विभाग सरकार में विद्यमान है तो उस विभाग की स्थापना अवश्यम्भावी होगी।
3. **मानव संसाधन-** नीति सम्बन्धीनवीन परियोजनाओं को कार्यरूप में परिणित करने के लिए अनुकूल मानवीय संसाधनों की आवश्यकता होती है। यदि विद्यमान मानवीय संसाधन उपयुक्त नहीं हैं तो अनुकूल मानव संसाधन की संख्या का निर्धारण करना और उन्हें स्थायी आधार पर या ठेके पर प्राप्त करना क्रियान्वयन संस्था को गति प्रदान करने के लिए आवश्यक है। यदि अनुकूल मानव संसाधन उपलब्ध ना हों तो संस्था में उनके आवश्यक प्रशिक्षण का प्रबन्ध करना, ताकि क्रियान्वयन सम्बन्धीआवश्यक कौशल को प्राप्त किया जा सके। भौतिकी तत्वों से भिन्न एवं अत्यन्त अपरिहार्य तत्व है। मानव शक्ति नीति के निष्पादन के लिए आवश्यक, कुशल और प्रतिबद्ध मानव नीति में निहित लक्ष्यों को साकार करने में कार्यकारी होते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि उपलब्ध मानव शक्ति को नीति के अनुरूप प्रशिक्षण दिया जाय औरउसमें निहित जनहित की ओर उन्मुख किया जाय।
4. **उपकरण-** विशिष्टता के युग में प्रत्येक नीति किसी ना किसी परियोजना से सम्बन्धितहोती है, जिसके लिए आधुनिक प्रबन्धकीय यंत्रों और उत्पादकीय उपकरणों की आवश्यकता होती है।
5. **आंकड़े और सूचना-** नीति सम्बन्धी आंकड़े और विश्वसनीय सूचना क्रियान्वयन के लिए आवश्यक तत्व हैं। उदाहरणार्थ, यदि अनुसूचित जाति के कल्याण के लिए कोई रोजगार योजना आरम्भ करनी है तो यह आवश्यक होता है कि अनुसूचित जाति की कुल जनसंख्या उनकी शिक्षा दर, बेरोजगारों की आयु एवं शिक्षा स्तर इत्यादि के आंकड़े होना आवश्यक है, ताकि लक्षित वर्ग का निर्धारण किया जा सके।

12.4 प्रभावकारी नीति-निष्पादन की पूर्व शर्तें

निष्पादन सम्बन्धी मौलिक तत्वों की पर्याप्तता के साथ-साथ निष्पादन को प्रभावकारी बनाने के लिए निम्नलिखित पूर्व शर्तों का होना आवश्यक है-

1. **नीति की स्पष्टता और नीति की सही व्याख्या-** नीति की अस्पष्टता और नीति की गलत व्याख्या नीति सम्बन्धी मूल उद्देश्य से भ्रमित कर सकती है। अतः आवश्यक है कि नीति का निरूपण स्पष्ट शब्दों में व्यापक रूप से किया जाय, ताकि उसे समझना आसान हो। नीति सम्बन्धी प्राथमिकताऐं स्पष्ट रूप से निर्धारित की जाय। इस स्तर पर नीति-क्रियान्वयन की विवेचना स्तरबद्ध रूप से की जाय।

2. **प्रतिबद्धता-** मात्र औपचारिकता के लिए नीति का क्रियान्वयन निर्धारित लक्ष्य को दूरगामी बना सकता है। यदि नीति पूर्ण लग्नता, विश्वास एवं प्रतिबद्धता के साथ क्रियान्वित की जाय तभी व्यवहार में साकार हो सकती है। प्रतिबद्धता के अभाव में क्रियान्वयन को सामाजिक उद्देश्य के स्थान पर स्वार्थ पूर्ति के लिए प्रयोग किया जाता है,तो भ्रष्टाचार पनपने लगता है।
3. **समयबद्धता-** निष्पादन कार्य यदि समयबद्ध हो तो नीति की प्रशासनिक, आर्थिक एवं सामाजिक उपयोगिता बढ़ जाती है। क्रियान्वयन सम्मत समय सीमा का उल्लंघन सार्वजनिक कोष पर आर्थिक भार को बढ़ा देता है और उसे सामाजिक रूप से निरर्थक बना देता है।
4. **मितव्ययिता-** उपलब्ध साधनों मानवीय तकनीकी एवं भौतिक का अधिकतम उपयोग क्रियान्वयन को मितव्ययी बना सकता है। संस्थापन पर व्यय को कम से कम करना और सेवाओं के लिए इन समस्त स्रोतों का प्रयोग करना सफल क्रियान्वयन के लिए आवश्यक शर्तें हैं।
5. **सहभागिता-** निष्पादन को एक व्यक्ति या एक संस्था का दायित्व ना मानते हुए सामूहिक अभ्यास मानना उपयोगी होगा। अतः अच्छे क्रियान्वयन के लिए आवश्यक है कि उच्च सरकारी अधिकारी निम्न अधिकारियों को पर्याप्त सत्ता का हस्तान्तरण करें। यह सहभागिता प्रशासनिक अधिकारियों एवं राजनीतिक अधिकारियों के मध्य भी हो सकती है, ताकि प्रजातांत्रिक व्यवस्था में नीति का लाभ अधिकाधिक जरूरतमंद वर्ग को प्राप्त हो। एक सफल क्रियान्वयन के लिए गैर-सरकारी इकाइयों, स्वयंसेवकों या स्वयंसेवी वर्ग को भी सहभागी बनाना उपयोगी माना जाता है। यह सहभागिता केन्द्र,राज्य एवं स्थानीय स्तरों पर प्राप्त की जा सकती है।
6. **समन्वय-** नीति सम्बन्धीप्रयासों, समस्तरीय और लम्बस्तरीय को सामंजस्यपूर्ण बनाना,ताकि वे एक-दूसरे के पूरक बन सके। यदि नीति का सम्बन्ध एक से अधिक विभागों या अभिकरणों के साथ है तो एक अन्तर-विभागीयसमन्वयक/इकाई का होना आवश्यक है। इसका कार्य क्रियान्वयन सम्बन्धी उन अवरोधों को दूर करना है,जो कि आपसी सहयोग के अभाव से उत्पन्न होते हैं।
7. **संसाधनों की पर्याप्तता-** क्रियान्वयन का कार्य अक्सर साधनों (आर्थिक, भौतिक एवं संरचनात्मक) की अपर्याप्तता के कारण अवरूद्ध हो जाता है। साधनों की अपर्याप्तता क्रियान्वयन को इतना अधिक विलम्बित कर देती है कि जहाँ एक और उससे सम्बन्धितव्यय अप्रत्याशित रूप से बढ़ जाता है, वहीं दूसरी ओर निर्धारित समय पर समाप्त ना होने पर यह सामाजिक हित की दृष्टि से भी अप्रासंगिक बन सकती है और सम्भावित लाभ से हाथ धोना पड़ता है।
8. **लचीलापन-** नीति-निर्माण की अवधि में दीर्घकालिक क्रियान्वयन सम्बन्धी पूर्व अनुमान लगाना नाकेवल कठिन ही होता है, बल्कि असम्भव भी होता है,क्योंकि व्यवहार में कई अप्रत्याशित विकास पूर्व नियोजन को अवरूद्ध कर सकते हैं। अतः क्रियान्वयन की प्रक्रिया में ग्रहण किए गए अनुभव और उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों के आधार पर निर्धारित कार्यक्रम में आवश्यक समायोजन होना आवश्यक है। इन समायोजनों के लिए क्रियान्वयन सम्बन्धी लचीलापन लाभप्रद होता है।
9. **पुनर्निवेश या नियंत्रण-** नीतियों के क्रियान्वयन को सफल बनाने के लिए प्रभावकारी नियंत्रण रखना आवश्यक है।अतः क्रियान्वयन की प्रक्रिया के प्रत्येक स्तर पर क्रियान्वयन सम्बन्धी प्रतिवेदन समय और लागत सम्बन्धी लक्ष्य को आश्वस्त करता है। इसी पुनर्निवेशन से ही उन कारणों, स्थितियों या अवरोधों का पता लगाया जा सकता है,जिनके आधार पर नीति सम्बन्धी पुनर्विचार किया जा सकता है और उसमें

आवश्यक संशोधन सुझाए जा सकते हैं। खुलापन एवं पारदर्शिता नीति-निष्पादन के लिए बहुत ही आवश्यक है। पारदर्शिता का संदेश है- 'आवश्यक सूचना तत्काल उपलब्ध हो।'

उपर्युक्त शर्तों की उपस्थिति यदि नीतियों के क्रियान्वयन को उद्देश्य उन्मुखी बनाती हैं तो इनकी अनुपस्थिति क्रियान्वयन को उद्देश्य से विमुख कर सकती है। आवश्यकता है, प्रशासनिक व्यवस्था में ऐसा वातावरण बनाने की, जिससे यह शर्तें स्वतः ही सम्भव हो सके।

12.5 नीति-निष्पादन में सरकारी एजेन्सियों की भूमिका

नीति-निष्पादन के सम्बन्ध में लोक प्रशासक के कार्यों का विस्तार पूर्वक उल्लेख करते हुए उसके द्वारा समय-सयम पर सरकार को क्या सुझाव प्रस्तुत किये जाते हैं?आदि का विवेचन करना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार हम नीतियों के क्रियान्वयन में सरकारी एजेन्सियों से सम्बन्धितविभिन्न पहलुओं का यहाँ विस्तार पूर्वक अध्ययन करेंगे।

12.5.1 नीति-निष्पादन में कार्यपालिका की भूमिका

प्रत्येक देश में प्रशासन के शीर्ष पर एक अभिकरण होता है, जिसे मुख्य कार्यपालिका कहा जाता है। मुख्य कार्यपालिका से हमारा तात्पर्य उस व्यक्ति या व्यक्ति समूह से होता है जो किसी देश की प्रशासनिक व्यवस्था का अध्यक्ष होता है। राजकीय इच्छा की अभिव्यक्ति कार्यपालिका द्वारा होती है। प्रत्येक राज्य का प्रशासनिक संगठन पिरामिड प्रकार का होता है, जिसमें आधार की व्यापकता ऊपर की ओर अग्रसर होते हुए धीरे-धीरे इतनी सीमित हो जाती है कि त्रिकोण के दोनों भाग एक बिन्दु पर जाकर मिल जाते हैं। कार्यपालिका इसी पिरामिड का शिखर है। लोक प्रशासन में मुख्य कार्यपालिका की स्थिति केन्द्रीय होती है। वह देश के प्रशासन का प्रधान होता है। इसे ही सम्पूर्ण प्रशासनिक प्रबन्ध व्यवस्था में नेतृत्व करना होता है।

शासनतंत्र को सामान्यतः किसी भी देश में जैसा कि हम जानते हैं,तीन भागों में बांटा जाता है-विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका, विधायिका में जनता के प्रतिनिधि होते हैं। यह विधि-निर्माण के माध्यम से जनता की इच्छाओं को अभिव्यक्ति करती है। इस विधि-निर्माण एवं जन इच्छा की अभिव्यक्ति के उपरान्त कार्यपालिका की भूमिका शुरू होती है। वह निर्मित विधि के आवरण में आवश्यक आदेशों को निर्गत करती है और विभागों एवं उपविभागों के जरिये विधि को क्रियान्वित करती है। इस प्रकार किसी भी देश का शासन कार्यपालिका द्वारा चलता है।इसके प्रधान को मुख्य कार्यपालिका, मुख्य निष्पादक अथवा मुख्य प्रशासन का नाम दिया जाता है। कार्यपालिका का रूप चाहे जो भी हो, असल जिम्मेदारी मुख्य प्रशासक की ही होती है। उसी के यहाँ से निर्मित विधि आवश्यक आदेशों, निर्देशों के साथ प्रारम्भ होती है और आगे बढ़ते-बढ़ते अन्त में सुख-सुविधाओं के रूप में जनता तक पहुँचती है। मुख्य कार्यपालिका शासन के शिखर-बिन्दु पर होती है और विधि के लागू होने के सन्दर्भ में उसके पास मुख्यतःतीनअस्त्र होते हैं- निर्देशन, पर्यवेक्षण और नियंत्रण, जिनसे विधि को प्रवाह मिलता है। इस प्रकार समुचा शासन-यंत्र संचालित होता रहता है। नीति-निष्पादन के सन्दर्भमें प्रत्येक शक्ति मुख्य प्रशासक या मुख्य कार्यपालिका से ही मिलती है।

अमेरिकी लेखकों ने मुख्य प्रशासक की शक्तियों और कार्यों का अवलोकन किया है और वे उस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि मुख्य प्रशासक की भूमिका सामान्य प्रबन्धक की होती है। जैसा कि हम जानते हैं कि बड़े-बड़े व्यापारिक उद्यमों में एक सामान्य प्रबन्धक का पद होता हैजो अपने सामान्य निरीक्षण और निर्देशन के माध्यम से अपने समस्त उद्यम को संचालित करता है। जैसा कि हम जानते हैं निदेशक मण्डल वह निकाय है जो कानूनों का निर्माण

करता है और इन कानूनों का क्रियान्वयन कार्यपालिका विभाग द्वारा किया जाता है,जो अन्ततः इस विधान सभा के प्रति ही उत्तरदायी होता है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार व्यापारिक संस्थाओं में निदेशक मण्डल द्वारा निर्मित विधि व आदेश के अधीन उस संस्था का सामान्य प्रबन्धक निरीक्षण, नियंत्रण और निर्देश का कार्य सम्पादित करता है। इस प्रकार शासन के क्षेत्र में विधि निर्माण शाखा को महाप्रबन्धक के रूप में चित्रित किया जाता है। एक मुख्य प्रशासक किसी देश की शासन व्यवस्था में या तो जनता या उसके प्रतिनिधियों की सभा(व्यवस्थापिका) के प्रति उत्तरदायी रहकर,निर्मित विधियों और आदेशों का क्रियान्वयन कर शासन प्रबन्ध का कार्य सम्पादित करता है।

12.5.2 नीति-निष्पादन में प्रशासन-तंत्र एवं न्यायपालिका की भूमिका

वैसे तो यह माना जाता है कि प्रशासनतंत्र का प्रमुख कार्य नीतियों का क्रियान्वयन है। तथापि आज लोक कल्याणकारी राज्य के प्रादुर्भाव ने प्रशासनतंत्र की उक्त परम्परागत धारणा को बदल दिया है। प्रशासन तंत्र ना केवल नीतियों का क्रियान्वयन करता है, अपितु नीति-निर्माण में भी प्रभावी भूमिका का निर्वाह करता है। यह कार्यपालिका के वृहद नीति क्षेत्र को पहचानने, बड़े नीति प्रस्तावों को तैयार करने, सामाजिक समस्याओं जिन पर तुरन्त ध्यान की आवश्यकता होती है,के विभिन्न विकल्पों तथा समाधानों का विश्लेषण, मुख्य नीतियों को उपनीतियों में बदलना, कार्य की योजना निर्धारित करना, वर्तमान नीतियों में इसके अनुभव के आधार पर निष्पादन के स्तर पर संशोधन का सुझाव देने में सहायता प्रदान करता है।

नीति-क्रियान्वयन में प्रशासनतंत्र की भूमिका को तीन मोटी-मोटी क्रियाओं में विभाजित किया जा सकता है- विश्लेषण करना, परामर्श देना औरसूचना देना।

1. **विश्लेषण करना-** नीति-निर्माण बहुत ही जटिल प्रक्रिया है। अतः प्रशासनतंत्र ही ऐसे महत्वपूर्ण मसलों पर, जिन पर तुरन्त ध्यान देने की आवश्यकता होती है,को पहचानने के बाद उन नीतियों से सम्बन्धित प्रस्तावों के गुण-दोषों का विश्लेषण करता है और यह देखता है कि जो नीतियाँ सामाजिक हित के लिए बनायी गयी हैं,कहीं उसका परिणाम खराब तो नहीं आयेगा।आदि इनबातों को ध्यान में रखते हुए नीतियों को प्रशासन लागू करवाता है और पुनरसम्भरण के माध्यम से जनता से उसकी कमियों का पता चलता है, जिससे बाद में उसमें आवश्यक संशोधन किये जाते हैं। यह प्रशासन-तंत्र का ही दायित्व है कि नीति प्रस्तावों को संविधान के उपबन्धों, संसदीय विधियों तथा प्रचलित नियमों तथा उपनियमों के सन्दर्भ में विश्लेषित करें।
2. **परामर्श देना-**प्रशासन-तंत्र को विशेष रूप से सचिवालय स्तर पर सरकार का मस्तिष्क समझा जाता है। चूँकियह सदैव राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं पर सोचता रहता है, इसी कारण यह नीति के निर्माण के साथ नीति-निष्पादन में बहुत बड़ी भूमिका का निर्वाह करता है और नीतियों में त्रुटि होने पर यह आवश्यक परामर्श कार्यपालिका को देता है। यह अपने विचारों को इस ढंग से प्रस्तुत करता है कि वे विचारराजनीतिक कार्यपालिका के परामर्श के रूप में कार्य करते हैं। ये परामर्श प्रशासनिक दक्षता तथा प्रशासन-तंत्र की योग्यता पर आधारित होते हैं। भारत में कैबिनेट सचिवालय जिसका प्रमुख कैबिनेट सचिव होता है, परामर्श के क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। कैबिनेट सचिव मंत्रीमण्डल तथा उसकी समितियों की सभी बैठकों में उपस्थित रहता है। वह विचारणीय विषयों की तैयारी करने, मसालों की प्राथमिकताएं तय करने तथा प्रधानमंत्री की सलाह पर मंत्रीमण्डलीय समितियों को विषयों का आवंटन करने के लिए भी उत्तरदायी है। पिछले कुछ वर्षो से प्रधानमंत्री कार्यालय भी नीति सम्बन्धी परामर्श देने में प्रभावी भूमिका निभा रहा है।

3. **सूचना देना-** नीति-निष्पादन की तैयारी का मुख्य कार्य प्रशासन-तंत्र के द्वारा किया जाता है। नीतिगत मुद्दों को पहचानने तथा नीतिगत प्रस्तावों को आकार देने के लिए वर्तमान समस्याओं के व्यवस्थित विश्लेषण की आवश्यकता होती है। किसी भी नीति को निचले स्तर तक लागू करने का कार्य प्रशासन-तंत्र का होता है। संक्षेप में नीति-निष्पादन में प्रशासन-तंत्र की सूचना सम्बन्धीभूमिका नीति प्रस्तावों की व्यवस्थित रचना के लिए वस्तुगत आधार तैयार करने तथा प्रस्तावों को प्रमाणित करने के लिए आवश्यक आंकड़े प्रदान करने से सम्बन्धित है तथा उसी के अनुरूप नीतियों को क्रियान्वयन करने से भी है।

नीति-निष्पादन में न्यायपालिका भी अपनी भूमिका निभाती है। ऐसा सामान्यतः तब होता है,जब नीति के उद्देश्य सुस्पष्ट नहीं होते हैं तथा उस नीति की कई व्याख्याऐं की जा सकती हैं। ऐसे मामलों में न्यायालय अपना निर्णय देते हैं तथा उनका निर्णय अन्तिम मान लिया जाता है। भारत में कई क्षेत्रों में किसी भी अधिनियम या नीति के निष्पादन से सम्बन्धितविवादों के निपटारे के लिए प्रशासनिक न्यायालयों की स्थापना की गई है।

अभ्यास प्रश्न-

1. नीति-निष्पादन सम्बन्धी तत्वों में निम्नलिखित में कौन नहीं है?
   क. धन ख. मानव संसाधनग. उपकरण घ. लचीलापन
2. प्रभावकारी क्रियान्वयन के लिए नीति की स्पष्टता और नीति की सही व्याख्या जरूरी होती है। सत्य/असत्य
3. नीति-निष्पादन वह प्रक्रिया है,जिसके द्वारा एक नीति के लक्ष्य पूरे किए जाते हैं। सत्य/असत्य
4. निम्नलिखित में कौन सी एजेन्सी नीति-निष्पादन के कार्यों में भाग नहीं लेती है?
   क. स्वैच्छिक संगठन ख. कार्यपालिका ग. न्यायपालिका घ. विधायिका

12.6 सारांश

लोक प्रशासन एक विज्ञान, कला अथवा विषय के रूप में जब पाठकों के समक्ष आता है तो दिलचस्पी के बावजूद उनमें कुछ शिथिलता का समावेश देखने को मिलता हैं। इसका प्रमुख कारण विषय में प्रयुक्त होने वाले शब्दों के चलते होता है। ऐसे शब्दों में नीति(Policy)शब्द भी एक है। पाठकों को इस शब्द का स्पष्ट अर्थ समझ लेना चाहिए, क्योंकि एक तो लोक प्रशासन आधुनिक जीवन में अनिवार्य और अभिन्न तत्व के रूप में उभर कर आया हैऔर दूसरे,इसके अन्तर्गत प्रयुक्त होने वाले शब्दों को स्पष्टतः समझ लेने से इसका अध्ययन भी सफल और सार्थक होता चला जायेगा।

नीति सम्बन्धीदूसरा चरण क्रियान्वयन का होता है। साधारण शब्दों में क्रियान्वयन या निष्पादन का अभिप्राय है नीति की अभिपूर्ति या नीति का परिपालन। अर्थात नीति सम्बन्धी कार्यवाही,नीति-निर्माण एवं नीति-क्रियान्वयन घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। नीति चाहे कितनी भी श्रेष्ठ क्यों ना हो यदि पूर्ण प्रयास और निहित भाव के अनुरूप क्रियान्वित नहीं की जाती तो उसकी श्रेष्ठता जाती रहती है।

नीति-निर्माण यदि नीति सम्बन्धी वैचारिक पक्ष है तो नीति-क्रियान्वयन व्यवहारिक आवश्यकता है। दोनों पक्षों के समायोजनकी नीति-निर्माणकरते समय उसकी क्रियान्वयन सम्बन्धी आवश्यकताओं-मानव-संसाधनों, आवश्यक सामग्री, उपकरणों, आर्थिक स्रोतों इत्यादिको पूर्व परिभाषित एवं पूर्व निर्धारण की आवश्यकता होती है। अतः नीति-निर्माण के दौरान ही नीति-क्रियान्वयन सम्बन्धी पूर्व-आयोजन अपरिहार्य है,जोकि दीर्घकालिक और अल्पकालिक हो सकती है। वैसे तो नीति-निष्पादन सरकार का प्रमुख दायितव है,फिर भी गैर-सरकारी

एजेंसियां,जैसे- स्वैच्छिक संगठन, दबाव समूह एवं नागरिक भी नीति-निष्पादन प्रक्रिया में योगदान देते हैं। वर्तमान समय में नीतियों के क्रियान्वयन में स्वयंसेवी संगठनों की महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन हो रहा है। हाल के वर्षों में स्वैच्छिक संगठन समकालीन मुद्दों,जैसे- पर्यावरण, सुरक्षा, शिक्षा, गरीबों के कानूनी मुद्दे, उपभोक्ता संरक्षण,मानव अधिकारों के संरक्षण, बाल कल्याणइत्यादि में सक्रिय रूप से भाग ले रहे हैं। कभी-कभी एक नीति का समाज के कुछ तबकों पर नकारात्मक प्रभाव भी पड़ता है। ऐसे प्रभावित तबके नीति-क्रियान्वयन में बांधा भी डाल सकते हैं। इस सम्बन्ध में एकत्रित सूचनाओं से सरकारी एजेंसियां सुधार के लिए प्रतिकारी उपाय, कदम और कार्य नीति पहले ही अपना सकती हैं। अन्त में नीति-कार्यान्वयन के लिए सम्बन्धित एजेंसियां मानकों तथा मानदण्डों का निर्धारण करती हैं।

12.7 शब्दावली

निष्पादन- क्रियान्वयन, अनुमोदन- सहमति,जागृति- चेतना,प्रदूषण- गन्दगी, अभिकरण- विभाग, पुनर्निवेश- क्रियान्वयन के बाद नीतियों की कमियां का सरकारी तंत्र के पास आना।

12.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. घ, **2.** सत्य,**3.** सत्य,**4.** घ

12.9सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. गौर, इन्द्रजीत ''लोक प्रशासन ''नए क्षितिज्ञ'' एस0बी0पी0डी0 पब्लिशिंग हाउस, आगरा।
2. फाड़िया, बी0एल0, लोक प्रशासन, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स आगरा, 2013
3. अवस्थी एवं माहेश्वरी, भारत में लोक प्रशासन, आगरा, 2000
4. सिंह, वीरकेश्वर प्रसाद, लोक प्रशासन, ज्ञानदा प्रकाशन नई दिल्ली, 2006
5. भट्टाचार्य, मोहित, लोक प्रशासन के नये आयाम।

12.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भाम्भरी, सी0पी0 ''पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन इण्डिया'' ।
2. जैन, पुखराज, लोक प्रशासन, एस0वी0पी0डी0 पब्लिकेशन, आगरा, 2009,
3. बसु, रूमकी, लोक प्रशासन।

12.11निबन्धात्मकप्रश्न

1. नीति-निष्पादन से आप क्या समझते? इसके विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालें।
2. एक 'औंस' क्रियान्वित नीति का महत्व 'मन भर' लिखित नीतियों से कहीं अधिक है।'' इस कथन की विवेचना करते हुए नीति-क्रियान्वयन के मार्ग में उत्पन्न होने वाली बाधाओं का उल्लेख कीजिए और ऐसे उपाय सुझाइऐ, ताकि नीति-क्रियान्वयन को प्रभावकारी बनाया जा सके।

इकाई- 13 नीति-निष्पादन में गैर-सरकारी एजेंसियों की भूमिका

इकाई की संरचना

13.0 प्रस्तावना
13.1 उद्देश्य
13.2 नीति-निष्पादन में गैर-सरकारी एजेंसियों का महत्व
13.3 नीति-निष्पादन में गैर-सरकारी एजेंसियों की भूमिका
13.3.1 नीति-क्रियान्वयन का व्यापक क्षेत्र
13.3.2 प्रशासनिक मशीनरी की सीमित पहुँच
13.3.3 प्रशासनिक अधिकारियों की कार्यों के सापेक्ष सीमित संख्या
13.3.4 लालफीताशाही
13.3.5 प्रशासनिक अधिकारियों को क्षेत्र विशेष की समस्याओं की सीमित जानकारी
13.3.6 अपव्यय पर रोक
13.3.7 व्यापक जन सहभागिता एवं अन्तिम व्यक्ति तक पहुँच
13.3.8 भारतीय परिप्रेक्ष्य में नीति-निष्पादन में एन0जी0ओ0 की भूमिका
13.4 सारांश
13.5 शब्दावली
13.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
13.7सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
13.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
13.9निबन्धात्मकप्रश्न

13.0 प्रस्तावना

नीति-निष्पादन वह प्रक्रिया है,जिसके द्वारा एक नीति के लक्ष्य एवं प्रतिज्ञाएं पूरी की जाती हैं। वर्तमान समय में नीति-निष्पादन में गैर-सरकारी एजेंसियाँ अपनी अहम भूमिका निभा रही हैं। वैसे तो नीति-निष्पादन सरकार का प्रमुख दायित्व हैफिर भी गैर-सरकारी एजेंसियां, जैसे- स्वैच्छिक संगठन, दबाव समूह एवं नागरिक भी नीति-निष्पादन प्रक्रिया में अपना महत्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं। उसका प्रमुख कारण सरकारी प्रशासन-तंत्र पर कार्य का अत्यधिक बोझ एवं उनकी अन्तिम व्यक्ति तक पहुँच ना होना प्रमुख कारण माना जा रहा है। इसके साथ-साथ कम व्यय एवं कम समय में नीतियों का क्रियान्वयन गैर-सरकारी एजेंसियों के माध्यम से सम्भव हो रहा है। वर्तमान समय में सरकार द्वारा जीवन के प्रत्येक क्षेत्रों में गैर-सरकारी संगठनों द्वारा सहयोग लिया जा रहा है, चाहे वह शिक्षा के विकास से सम्बन्धित पहलू हो या फिर स्वास्थ्य से जुड़ी बात हो। प्रत्येक क्षेत्र में एन0जी0ओ0 अपनी स्पष्ट भूमिका निभा रहा है। भारत में समाज सेवा और स्वेच्छी सेवा सम्बन्धीउच्च भावना की प्राचीन परम्परा विद्यमान रही है। ब्रिटिश काल में भी अनेक स्वयंसेवी संस्थाऐं विभिन्न सामाजिक कल्याण की गतिविधियों जैसे- निर्धनों की सहायता तथा शिक्षा का प्रसार इत्यादि में संलग्न रही। स्वयं महात्मा गांधी का राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन आरम्भिक स्तर पर सामाजिक पुर्ननिर्माण, स्वयं सेवा और गरीबों में से सबसे अधिक गरीब की सेवा सम्बन्धीसंदेश पर आधारित था, जिसका मुख्य आधार था,स्वैछिककार्यवाही। इस प्रकार वर्तमान समय में भी नीति-निष्पादन में गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका बढ़ गयी है। ये संगठन निःस्वार्थ भाव से और अवैतनिक आधार पर सेवाऐं प्रदान कर रहे हैं और सरकार की प्रत्येक योजना को अन्तिम व्यक्ति तक पहुँचाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं।

13.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- नीति-निष्पादन में गैर-सरकारी एजेंसियों की भूमिका को जान सकेंगे।
- नीति-निष्पादन में गैर-सरकारी एजेंसियों कहाँ तक सफल है, यह भी आप अध्ययन के उपरान्त जान पायेंगे।
- गैर-सरकारी एजेंसियों की कार्य प्रणाली से भी अवगत हो सकोगे।

13.2 नीति-निष्पादन में गैर-सरकारी एजेंसियों का महत्व

लोकतांत्रिक समाज में केवल नीतियों का निर्माण कर देने से समाज का विकास एवं भला नहीं हो जाता है। विशेष कर विकासशील देशों में नीतियों तो बहुत बनती हैं, पर उनका सही क्रियान्वयन ना हो पाना एक बड़ी समस्या है। बहुत सारी नीतियां प्रशासनिक औपचारिकता के चक्कर में रूकी पड़ी रहती हैं और काफी समय तक अधिकारी के पटल पर पड़ी रहकर धूल खाती रहती हैं। अधिक समय बीत जाने पर अधिकारी का भी स्थानान्तरण हो जाता है,जिससे अन्तिम व्यक्ति तक नीतियों का लाभ नहीं मिल पाता है। वर्तमान समय में गैर-सरकारी स्वयंसेवी संस्थाओं ने नीतियों को कम समय में अन्तिम व्यक्ति तक पहुँचाने का कार्य किया है, जिससे इसका महत्व बढ़ गया है। दुनिया भर के तमाम देशों में स्वयंसेवी संस्थाऐं बढ़-चढ़कर सरकारी नीतियों के निर्माण से लेकर नीतियों के क्रियान्वयन तक अहम भूमिका निभा रही हैं। नीतियों का क्रियान्वयन जब तक अन्तिम व्यक्ति तक ना पहुँचे,तब तक उसके निर्माण का कोई महत्व नहीं होता, चाहे नीतियां कितनी हो अच्छी क्यों न हो।

13.3 नीति-निष्पादन में गैर-सरकारी एजेंसियों की भूमिका

इस इकाई के अन्तर्गत हम नीति-क्रियान्वयन में गैर-सरकारी संगठन के प्रभाव का व्यापक अध्ययन करेंगे तथा साथ ही साथ भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था में गैर-सरकारी एजेसियां कहाँ तक सफल हैं,इसका विस्तारपूर्वक अध्ययनकरेंगे।

13.3.1 नीति-क्रियान्वयन का व्यापक क्षेत्र

नीति-निष्पादन का क्षेत्र बहुत ही बड़ा होता है। सरकारी एजेंसियां बिना स्वयंसेवी संगठनों के सहयोग के पूरा करने में असमर्थ होती हैं। चूँकिव्यापक क्षेत्र होने के कारण सरकारी कर्मचारी उतनी मात्रा में नहीं हैं, जिससे कम समय में नीतियों का क्रियान्वयन किया जा सके। बहुत सी ऐसी सार्वजनिक नीतियां होती हैं जो बिना एन0जी0ओ0 के वर्तमान समय में पूरी नहीं की जा सकती। वर्तमान समय में कल्याणकारी राज्य का स्वरूप अपनाये जाने के कारण कार्य का बोझ इतना ज्यादा बढ़ गया है कि बिना गैर-सरकारी एजेन्सी के सहयोग के नीतियों का लाभ अन्तिम व्यक्ति तक नहीं पहुँचाया जा सकता है। सभी राज्यों में एन0जी0ओ0 बहुत ही लगन से कार्य कर रहा है। पोलियो उन्मूलन कार्यक्रम, राष्ट्रीय एड्स नियंत्रण कार्यक्रम आदि नीतियों का क्रियान्वयन गैर-सरकारी संगठनों के माध्यम से ही संचालित हो रहे हैं। इसके अलावा जागरूकता कार्यक्रम, शासकीय कार्यक्रमों की जानकारी उपलब्ध कराना,अध्ययन पुस्तकों का वितरण,स्वास्थ्य शिविर व औषधि निर्माण और वितरण जैसे कार्यक्रमों को बहुत ही बड़े पैमाने पर एन0जी0ओ0 द्वारा सम्पन्न कराया जा रहा है। सभी वास्तविक गैर-सरकारी संगठन एक-दूसरे के पूरक हैं। किसी एक संगठन की किसी दूसरे संगठन के साथ कोई र्स्पधा नहीं होती। यह क्षेत्र अत्यन्त उदार है और

हजारों संगठन किसी एक विषय क्षेत्र में कार्य कर सकते हैं एवं कार्य कर रहे हैं। सभी गैर-सरकारी संगठन उच्चतम आदर्शों और विशिष्ट सामाजिक मूल्यों की स्थापना के लिए कार्य करते हैं, इसलिये उनकी नेटवर्किंग के माध्यम से विभिन्न सूचनाऐं और सहयोग भी उपलब्ध हो जाता है।

भारत एक लोकतांत्रिक राष्ट्र है, जहाँ जनता के द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों के माध्यम से शासन चलाया जाता है। भारत की स्वाधीनता के साथ ही देश के नये भाग्य विधाताओं ने कल्याणकारी राज्य की कल्पना को मूर्त रूप प्रदान करने के लिये राज्य और केन्द्र की सरकारों का स्वरूप निर्धारित किया था। इन सरकारों के अन्तगर्त जन विकास और कल्याण के लिए अनेक विभाग निर्मित हुए। इन विभागों ने अपने कार्यों को क्रियान्वित करने के लिए गैर-सरकारी एजेंसियों का सहयोग ले रखा है।

13.3.2 प्रशासनिक मशीनरी की सीमित पहुँच

वर्तमान समय में सरकारी कार्यों का क्षेत्र व्यापक हो गया है एवं कार्यों के सापेक्ष सरकारी-तंत्र उतना चुस्त एवं संसाधन युक्त नहीं रह गया है। जिसकारण नीतियों के सफल क्रियान्वयन के लिए गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका बढ़ जाती है और उन्हीं के माध्यम से नीतियों का सफल क्रियान्वयन सम्भव हो पाता है। कोई भी योजना का लाभ अन्तिम व्यक्ति तक पहुँचाने के लिए सरकारी विभाग अन्य गैर-सरकारी एजेसियों का सहयोग लेते हैं। चूँकिप्रशासन में इतना ज्यादा लाल फीताशाही, भ्रष्टाचार व्याप्त है कि ज्यादातर योजनाऐं अन्तिम व्यक्ति तक नहीं पहुँच पाती है, आधे रास्ते में ही दम तोड़ देती है,चूँकि उनकी सामाजिक सहभागिता बहुत ही सीमित होती है। लेकिनगैर-सरकारी संगठन जन-संस्कृति के साथ ताल-मेल को तत्पर रहते हैं। खुद को जनता का हिस्सा मानते हैं व जन-मनोविज्ञान को समझाने की चेष्टा करते हैं। विकास की समग्रता व निरन्तरता ही उनका सबसे बड़ा मुद्दा होता है। मशीनी प्रक्रिया और लक्ष्य पर आधारित कार्य उनके लिये स्पष्ट होते हैं। उनके मन में सामाजिक मूल्य तथा विशेष अवधारणाऐं होती हैं। इन्हीं की स्थापनाओं के लिए वे कार्य करते हैं। वर्तमान समय में कहीं पर भी राष्ट्रीय आपदा आने पर सरकारी मशीनरी के पहुँचने से पहले स्वयंसेवी एवं गैर-सरकारी संगठन पहुँच जाते हैं और व्यक्तियों को उस आपदा से निकालने का प्रयास करते हैं। जैसे- बाढ़, भूकम्प, भू-स्खलन चक्रवाती तूफान, सूनामी आदि क्षेत्र में उनके सराहनीय कार्यों को देखा जा सकता है। वर्तमान समय में गैर-सरकारी संगठनों की पहुँच प्रत्येक क्षेत्र में एवं जन-जन तक हो चुकी है। गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका को एवं उनके द्वारा कराये जा रहे कार्यों को अनदेखा नहीं किया जा सकता। जबलपुर की भूकम्प त्रासदी की एक घटना सन्1997 में घटी थी,उसमें कुछ गांवों में खासी तबाही मचा दी थी। सरकार से पहले गैर-सरकारी संगठनों ने पहल की थी और राहत के बढ़िया कामों के जरिये सबका ध्यान खींचा था।

गैर-सरकारी संगठन अपनी स्वनिर्मित कार्य पद्धति के कारण ही अपनी स्वतंत्र पहचान रखते हैं। व्यक्तित्व की सहजता, विचारों की स्पष्टता और अधिक से अधिक लोगों तक पहुँच बनाने की सरलता उसकी पूँजी होती है। संगठन के व्यक्तित्व में सरलता का गुण अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। इसी सरलता के कारण नये-नये लोग संगठन से जुड़ते हैं। यदि संगठन अपने द्वार बन्द कर ले या अपने तौर-तरीके इतने जटिल बना ले कि सामान्य व्यक्तियों के साथ संवाद कायम ना होने पाये तो ऐसा संगठन अपने ही दायरों में सिमट कर रह जाता है। गैर-सरकारी संगठन के लोग सहज भाव से अपने लक्ष्य को केन्द्रित करके आम नागरिकों से मिलकर उनको सरकारी योजनाओं के विषय में समुचित जानकारी देते हैं। भारत में सरकार ने एक ऐतिहासिक निर्णय लिया है कि सरकारी कामकाज की पड़ताल और मूल्यांकन करने के लिए निजी क्षेत्र से परामर्श किया जायेगा और गैर-सरकारी संगठनों को जोड़ा जायेगा।

भारत सरकार का प्रशासनिक विभाग एक टीम गठित कर रही है,जो प्रत्येक मंत्रालय और विभागों को भ्रमण करेगी तथा उनके कार्य निष्पादन एवं प्रदर्शन का मूल्यांकन करेगी। यह खास तौर पर उन विभागों के लिये होगी जो सरकारी सेवा क्षेत्र से सम्बन्धितहै।जैसे- पुलिस, स्वास्थ्य, और शिक्षा। यह भी मूल्यांकन किया जायेगा कि सरकारी वादों को कितना निभाया गया। फिलहाल यह योजना केन्द्र सरकार के विभागों के लिये है, किन्तु बाद में इसे राज्यों तक विस्तारित किया जायेगा।

13.3.3 प्रशासनिक अधिकारियों की कार्यों के सापेक्ष सीमित संख्या

प्रशासनिकअधिकारियों एवं कर्मचारियों की संख्या कार्यो की अपेक्षा बहुत ही सीमित है। जिससे गैर-सरकारी संगठनों के सहयोग से कार्यों को सम्पन्न किया जाता है। नीतियों का निर्माण विधायिका द्वारा कर दिये जाने के उपरान्त नीतियों का क्रियान्वयन सही ढंग से नहीं हो पाता है। उसके पीछे सबसे बड़ा कारण प्रशासनिक अधिकारियों की सीमित संख्या होना है। इसलिए गैर-सरकारी संगठन जो सरकार के सिद्धान्तों पर कार्य करते हैं, उनको वह कार्य सौंप दिया जाता है। चूँकि उनकी संख्या बहुत होती है और उनका नेटवर्क शहरों से लेकर गांवों तक फैला होता है,इसलिए वह कम समय में अपने सारे कार्यों को अंजाम तक पहुँचा देते हैं। वर्तमान समय में विश्व के लगभग तमाम देशों में गैर-सरकारी संगठन सरकार के समानान्तर कार्य कर रहे हैं। वर्तमान समय में गैर-सरकारी संगठनों की बाढ़ सी आ गयी है। वर्तमान युग जनतंत्र का युग है, जिसमें जनमत की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। कोई भी संगठन चाहे वह निजी हो या सरकारी, लोगों के सामने उसे अपनी उपलब्धियों को प्रस्तुत करना आवश्यक होता है, क्यूँकि यह युग कल्याणकारी सरकार का है। इस समय दुनिया के लगभग सभी देशों में कल्याणकारी सरकार की स्थापना हो चुकी है।इसलिए यह और नितान्त आवश्यक हो जाता है कि सरकारी नीतियों का सही ढंग से एवं त्वरित क्रियान्वयन हो, जिससे जनता का अधिकतम कल्याण हो सके। यह गैर-सरकारी संगठनों के बिना सम्भव नहीं है कि कम समय में उन नीतियों को क्रियान्वित किया जा सके। सरकारी विभागों के संचालन के लिए बड़े नौकरशाह अफसर और कर्मचारियों की फौज नियुक्त की गयी। सरकारी व्यवस्था का जो स्वरूप आज हमें दिखाई देता है, उसका आधार और बनावट का अधिकांश रूप अंग्रेजों से 'जंस का तस' ले लिया गया है। यहाँतक कि सरकार के उद्देश्यों में भी अंग्रेजी मानसिकता की ही झलक मिलती है।

अंग्रेजी शासन व्यवस्था का उद्देश्य था,भारतवासियों पर अंग्रेजी राज की जड़ें मजबूत करना तथा गुलाम भारतीयों और शासक(अंग्रेजों) के रूप में दो वर्गों को समाज में बनाये रखना। दुर्भाग्य से यह मानसिकता स्वतंत्र भारत में भी मौजूद है। इसे बड़ी आसानी से सरकारी दफ्तरों में बैठे हुए आला-अफसरों के व्यवहार और आचरण में आज भी देखा जा सकता है। इसका नतीजा यह हुआ कि हमारी शासन व्यवस्था एक अजीब किस्म के द्वैत में काम करने के लिए अभिशप्त हो गयी है। जिस नौकरशाही को गरीबों, पीड़ितों और वंचितों के प्रति जवाबदेह बनकर उनके विकास और कल्याण के लिए कार्य करने का जिम्मा सौंपा गया है, वही नौकरशाहगरीबों, पीड़ितों और वंचितों पर शासन करने की मानसिकता से प्रेरित हैं। इस स्थिति में गैर-सरकारी संगठन जो सहज भाव से गरीबों, असहायों एवं पीड़ितों के कल्याण के लिए संलग्न हैं, उनकी भूमिका और बढ़ जाती है।

सरकारी अमला कल्याण और विकास कार्यक्रमों की सम्पन्नता और निरन्तरता के साथ भी कोई सरोकार नहीं रखता।उन्हें तो केवल उतने ही अंश से मतलब होता है, जितने का उनकी नौकरी और निर्धारित कर्तव्यों से रिश्ता होता है। इतना ही नहीं, सरकारी अमला एक ऐसी मशीनी प्रक्रिया का आदी भी बन गया है जो लक्ष्य-धारित कार्यशैली के रूप में जानी जाती है। आंकड़ों की बाजीगरी ही उनके संतोष का श्रोत बन गयी है। इसके अलावा गैर-सरकारी एजेंसियां समाज के विकास और लोगों के कल्याण के लिए अपनी गतिविधियों को मूर्त रूप देने के

लिए जिस तरह की कार्यविधि को विकसित करते हैं, वह कहीं अधिक कारगर रूप से क्रियान्वयन कर पाने में सफल होती है।

13.3.4 लालफीताशाही

विश्व भर में नौकरशाहों द्वारा नियमों और प्रक्रियाओं का पालन किए जाने की उम्मीद की जाती है,जो वास्तव में उत्तम शासन के लिए महत्वपूर्ण है। लेकिन सरकारी कर्मचारियों द्वारा प्रत्येक फाइल पर इतना ज्यादा समय लिया जाता है, जिससे किसी योजना को अच्छी गति नहीं मिल पाती है। कभी-कभी तो लालफीताशाही के चक्कर में उस योजना का दम निकल जाता है। गैर-सरकारी एजेंसियों में ऐसा नहीं होता,वहाँ पर कार्य काफी तेजी से होता है। लोकप्रशासन में प्रशासनिक कार्य की गति धीमी रहती है तथा प्रशासनिक प्रक्रिया के परिणाम स्वरूप लालफीताशाही में भ्रष्टाचार, अक्षमता जैसी प्रशासनिक बुराइयों का बोल-बाला होने लगता है। नीति-निष्पादन को प्रशासनिक अधिकारियों द्वारा पत्रों के उत्तर विलम्ब से दिये जाते हैं तथा प्रशासकीय मशीन में शिथिलता आ जाती है। इसके विपरीत गैर-सरकारी संगठन के क्षेत्र में प्रशासनिक कार्य तेज गति से सम्पन्न किये जाते हैं और निर्णय लेने में विलम्ब नहीं होता है। आधुनिक अफसर शाही से सभी दृष्टि में उच्च स्तर की व्यावसायिक योग्यता अपेक्षित है। अफसरशाही की जो स्थिति आज है, वह इसकी शोचनीय व्यावसायिक अयोग्यता के कारण है। परियोजनाऐं चाहे राज्य स्तर की हों या केन्द्र स्तर की कार्यान्वयन स्तर पर कार्य कुशलता के अभाव में ना केवल उन्हें पूरा करने में अत्यधिक समय लगता है, बल्कि लागत बढ़ जाती है। भारतीय आर्थिक आयोजन की बिडम्बना यह है कि राष्ट्रीय स्तर पर तो इसमें अत्यधिक आधुनिक तकनीकें अपनायी जा रही है, परन्तु कार्यान्वयन स्तर पर प्रत्यक्षत गुणवत्ता में गिरावट आ रही है। इसके लिए उच्च पदस्थ नौकरशाह कुछ कम उत्तरदायी नहीं हैं। भारतीय अफसरशाही की सबसे बड़ी कमजोरी यही रही है कि वह आधुनिक प्रबन्ध की पद्धतियों को जानने, तकनीकी सीखने और व्यावसायिक कुशलता को अद्यतन(Updates)करने के प्रयास नहीं करती। भारत में राजनीतिक व्यवस्था को बनाये रखने में नौकरशाही या प्रशासन-तंत्र का बड़ा हाथ है।

13.3.5 प्रशासनिक अधिकारियों के क्षेत्र विशेष की समस्याओं की सीमित जानकारी

गैर-सरकारी संगठनों के सन्दर्भ में परियोजना का ज्ञान, क्रियान्वयन की क्षमता और सम्पादित करने की पद्धतियों से परिपक्व परिचय एवं क्षेत्र विशेष से सम्बन्धितआर्थिक, सामाजिक एवं उस क्षेत्र में रहने वाले नागरिक की वास्तविक स्थिति की जानकारी सरकारी कर्मचारियों की अपेक्षा गैर-सरकारी एजेंसियों को ज्यादा रहती है। इस कारण वे किसी भी परियोजना को सरकारी विभागों की अपेक्षा अधिक अच्छे ढंग से क्रियान्वित करने का प्रयास करते हैं।

किसी विषय क्षेत्र का लगभग समग्र ज्ञान तथा उस ज्ञान का निरन्तर परिमार्जन,नवाचार और शोधात्मक प्रवृत्ति से ही हासिल की जा सकती है। कोई भी संगठन विशेषता हासिल किये बिना सफल नहीं हो सकता। अपने चुने हुए कार्य-क्षेत्र,जैसे- शिक्षा, साक्षरता, पर्यावरण, स्वच्छता, स्वास्थ्य, समूह निर्माण आदि से सम्बन्धित साहित्य का अधिक से अधिक संकलन और संग्रहण करने की प्रवृत्ति ने ही गैर-सरकारी संगठनों को अधिक उपयोगी बना दिया। गैर-सरकारी संगठन अपनी स्वनिर्मित कार्य पद्धति के कारण ही अपनी स्वतंत्र पहचान रखते हैं। व्यक्तित्व की सहजता, विचारों की स्पष्टता और अधिक से अधिक लोगों तक पहुँच बनाने की सरलता उसकी पूँजी होती है।

गैर-सरकारी संगठन अपने कार्यक्षेत्र/लक्ष्यक्षेत्रके साथ गहरे और अनौपचारिक सम्बन्धबनाते हैं। शहरी/ग्रामीण/मलीन बस्तियां आदि उनकी अनुसंधानशाला और धीरे-धीरे कार्यशाला बन जाती है। क्षेत्र विशेष से सम्बन्धितढाँचे के समस्त अंगों एवं उपायों से इस तरह व्यवस्थित करना,जिससे समग्रता में परिणाम प्राप्त किये जा

सके। एक गैर-सरकारी संगठन के लिए प्रबन्धन का अर्थ है- उसके संचालन से सम्बन्धितविभिन्न पक्षों की सर्वोत्तम और आनुपातिक सुव्यवस्था निर्मित करना। यह तभी सम्भवहो पाता है,जब गैर-सरकारी संगठनों से जुड़े हुए विभिन्न कारकों की सुचारू व्यवस्था हो। गैर-सरकारी संगठन जन संस्कृति के साथ गहरा ताल-मेल स्थापित करने के लिए सदैव तत्पर रहता है। जन संस्कृति से तात्पर्य यह है कि उन्हें यदि आदिवासी समुदाय के साथ काम करना है तो वे सबसे पहले आदिवासी जीवन शैली,परम्पराओं तथा उनकी समस्याओं की सूक्ष्म जानकारी प्राप्त कर लेते हैं।

13.3.6 अपव्यय पर रोक

लोक कल्याणकारी राज्य में विभिन्न योजनाओं के क्रियान्वयन में सरकारी मशीनरी द्वारा सरकारी धन का बड़े पैमाने पर अनावश्यक शिष्टाचार में अत्यधिक व्यय होता है। नियंत्रण और निरोध के होते हुए भी शासन का व्यय बढ़ता जाता है, इसकी तुलना में गैर-सरकारी एजेंसियां अनावश्यकशिष्टाचार एवं अपव्यय को कम करके अपने लक्ष्यों एवं कार्यों के क्रियान्वयन को एक सही दिशा देती हैं। इसलिए सरकार भी चाहती है कि योजनाओं के क्रियान्वयन में गैर-सरकारी संगठनों की अधिक से अधिक भागीदारी हो, जिससे अनावश्यक अपव्यय को रोका जा सके। प्रचलित नीति के अनुसार जो कार्य हो रहे हैं, उन पर यथासम्भव कम से कम खर्च करने का प्रयत्न गैर-सरकारी संगठनों द्वारा किया जाता है। अनावश्यक ताम-झाम से गैर-सरकारी संगठन हमेशा दूर रहते हैं। उनका उद्देश्य सिर्फ योजनाओं को मूर्त रूप देना होता है, जिससे उन योजनाओं का लाभ गरीब एवं समाज का अन्तिम व्यक्ति प्राप्त कर सके। गैर-सरकारी संगठनों का नेटवर्क एवं कर्मचारियों की संख्या बहुत अत्यधिक होती है, उनको कम वेतन पर शिक्षित बेरोजगार युवा पर्याप्त मात्रा में मिलते रहते हैं। ये स्थायी पद से तो नौकरी देते नहीं हैं। जब ये कर्मचारी अच्छा कार्य करते हैं, तभी उनको वहाँ रखा जाता है,अन्यथा उनको निकाल दिया जाता है। इसलिए सरकारी कर्मचारियों की तुलना में वे ज्यादा ईमानदारी एवं निष्ठा से योजनाओं को क्रियान्वित करते हैं।

13.3.7 व्यापक जन सहभागिता एवं अन्तिम व्यक्ति तक पहुँच

उस समय गैर-सरकारी एजेंसियों की भूमिका और बढ़ जाती है, जब उनकी जन सहभागिता एवं अन्तिम व्यक्ति तक पहुँच सरकारी मशीनरी से अधिक हो जाती है। वर्तमान समय में गैर-सरकारी एजेंसियों का नेटवर्क प्रत्येक देश के हर कोने तक फैला हुआ है। किसी भी योजना का निर्माण तभी सार्थक होता है, जब वह अन्तिम व्यक्ति तक पहुँचा दिया जाता है या उसका लाभ देश-प्रदेश के प्रत्येक नागरिक को मिल जाता है। इस कार्य को पूरा करने में गैर-सरकारी एजेंसियाँ निर्णायक भूमिका अदा कर रही हैं।

गैर-सरकारी एजेसियों का लक्ष्य कार्यक्षेत्र में उनका प्रवेश किसी वी0आई0पी0 या उच्च नौकरशाह की तरह नहीं होता। वे इतने सहज भाव से अंतरण करते हैं, जैसे मित्रों के घर में प्रवेश होता है। विकास की समग्रता व निरन्तरता ही उनका सबसे बड़ा मुद्दा होता है। एन0जी0ओ0 लोकप्रियता की बजाय जन-आस्था की ललक से भरपूर होते हैं। इन सब स्वयंसेवी संगठनों के साथ-साथ राजनीतिक दल, दबाव समूह, किसान यूनियन, व्यापारी गुट, शिक्षक गुट, छात्र-सभा आदि संगठन सरकार की नीतियों के क्रियान्वयन को अपने पक्ष में प्रभावित करने का प्रयास करते हैं, जिसमें दबाव समूह प्रशासनिक व्यवस्था के महत्वपूर्ण अंग बन चुके हैं। ये समूह देश की प्रशासनिक और राजनीतिक व्यवस्था पर प्रभाव डालने का प्रयास करते हैं, ताकि उनके हितों को बढ़ावा मिल सके अथवा कम से कम उनके हितों की उपेक्षा ना की जा सके। दबाव समूह ना केवल नीति-निर्माण प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं, अपितु प्रशासनिक अधिकारियों को प्रभावित करके नीति का क्रियान्वयन अपने हितों के अनुकूल करा लेते हैं। वे नागरिकों एवं नीति निर्णायकों के बीच एक सेतु का कार्य करते हैं। मायनर वीनर ने लिखा है कि ''भारत में संगठित

समूह अधिकांशतः प्रशासनिक प्रक्रिया को ही प्रभावित कर पाते हैं ना कि नीति-निर्णय को। पश्चिम के विकसित देशों में दबाव समूह अपने आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि हितों को सुरक्षित रखने के लिए निर्विवाद रूप से संगठित हैं, जबकि भारत में ये समूह साम्प्रदायिक, क्षेत्रीय एवं जातीय मुद्दों के आस-पास ही संगठित हैं। ये संगठन व्यापक रूप से अन्तिम व्यक्ति तक पहुँच रखते हैं।''

13.3.8 भारतीय परिप्रेक्ष्य में नीति-निष्पादन में गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका

आधुनिक राज्य कानून व्यवस्था का पालन करवाने वाला पुलिस राज्य नहीं हैं, बल्कि जनकल्याण से सम्बन्धित अनेक सकारात्मक कार्य करने वाले लोककल्याणकारी राज्य हैं। वह नागरिकों के जीवन को खुशहाल बनाने के लिए अनेक सुविधाऐं जुटाने का महत्वपूर्ण काम भी करते हैं। इन सुविधाओं में शिक्षा स्वास्थ्य रोजगार के व्यापक अवसर और बेहतर परिवहन व्यवस्था का प्रबन्ध भी शामिल है। वस्तुतः आज नागरिक और प्रशासन के आपसी सम्पर्क में बहुत अधिक वृद्धि होने के बावजूद प्रत्येक स्तर पर कार्य का सही ढंग से निष्पादन नहीं हो पाता है, इसलिए गैर-सरकारी एजेंसियों की कार्यपूर्ति के लिए उनकी सेवा ली जाती है। आज भारत में लगभग 80 हजार एन0जी0ओ0 रजिस्टर्ड हैं।

भारत में गैर-सरकारी संगठन वह संस्था है जो कि संघ पंजीकरण अधिनियम, सहकारिता संघ अधिनियम, सार्वजनिक न्यास अधिनियम और कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत पंजीकृत होते हैं। इसमें एक सामान्य सभा, कार्यकारी परिषद, मुख्य कार्यकारी, अध्यक्ष, कुछ वैतनिक स्टाफ और स्वयंसेवक होते हैं। ये संगठन स्थानीय, जिले या राज्य स्तर पर औपचारिक शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा, महिला शिक्षा, हरिजन उद्धार, अस्पतालों और औषधालयों की स्थापना, वृद्धों के संरक्षण तथा इसके साथ-साथ सरकार द्वारा दिये गये कल्याणकारी कार्य का क्रियान्वयन करते हैं।

लगभग 10 हजार से भी अधिक गैर-सरकारी संगठन समाज कल्याण विभाग, सामाजिक अधिकारिता मंत्रालय, महिला एवं बाल विकास मंत्रालय के साथ कार्य कर रहे हैं। केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड की स्थापना के पश्चात इन संगठनों की संख्या में उल्लेखनीय वृद्धि हुई,क्योंकि इसके द्वारा सामाजिक कल्याण के विभिन्न कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के लिए इन संगठनों को वित्तीय सहायता प्रदान करने का प्रावधान किया गया। 1970 के दशक में स्वीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत विकासात्मक परियोजनाओं में स्वेच्छी सेवाओं का प्रावधान किया गया। छठी पंचवर्षीय योजना के प्रलेख में सहभागिता विकास के महत्व को पहचानते हुए गैर-सरकारी संगठनों के माध्यम से जनता में जाग्रति उत्पन्न करने पर बल दिया गया।

अब सरकार एवं प्रशासन इस तथ्य को स्वीकार कर चुके हैं कि भारत जैसे विकासशील देश में केवल अफसरशाही के बल पर गरीब एवं असहाय लोगों तक पहुँचना सम्भव नहीं है और स्वयंसेवी संगठनों की भूमिका विकास कार्य में काफी मददगार है। स्वयंसेवी संस्थाऐं सरकार के कार्यों को जाँचती-परखती है, उन पर अमल करवाने में मदद करती हैं और यह भी देखती हैं कि सरकार की कोई विशेष नीति किसी विशेष क्षेत्र में किस प्रकार से और सुधारी जा सकती है।

अब यह स्वीकार कर लिया गया है कि विकास प्रशासन में गैर-सरकारी एजेंसियों की महत्वपूर्ण एवं प्रभावी भूमिका है। वे सरकारी प्रयासों का सम्पूरक(Supplement) हैं। वे ग्रामीण स्तर पर लोगों के 'आंख एवं कान' की भूमिका निभाती है।सूचनाओं का प्रसारण करती है और व्यवस्था को सक्रिय एवं जबावदेह बनाती है। हाल के वर्षों में स्वैच्छिक संगठन समकालीन सामाजिक मुद्दों,जैसे- पर्यावरण संरक्षण, गरीबोंको मुफ्त कानूनी सहायता, उपभोक्ता संरक्षण, मानव अधिकारों की रक्षा, हरिजन एवं जनजाति विकास, बाल कल्याण आदि क्षेत्रों में सक्रिय

रूप से भाग लेते रहे हैं। चिपको आन्दोलन ने पर्यावरण समस्याओं पर सामाजिक जाग्रति पैदा की। भारत में गैर-सरकारी एजेंसियां सरकारी उपक्रमों के साथ कन्धे से कंधा मिलाकर उपभोक्ता संरक्षण समूह, उत्पादक प्रधान अर्थ व्यवस्था में उपभोक्ता के हितों की सुरक्षा एवं सरकारी योजनाओं का सफलता पूर्वक क्रियान्वयन कर रही है।

अभ्यास प्रश्न-

1. गैर-सरकारी संगठन किसे कहते हैं?
2. लोक कल्याणकारी राज्य किसे कहते हैं?
3. वर्तमान समय में भारत में कितने रजिस्टर्ड गैर-सरकारी संगठन कार्यरत हैं?
4. नीति-निष्पादन क्या है?

13.4 सारांश

वर्तमान समय में किसी भी जनतांत्रिक व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने के लिए शासन की नीतियों को जनता तक पहुँचाना पड़ता है। लोककल्याणकारी राज्य होने के नाते सरकार के कार्यों में लगातार वृद्धि होती जा रही है, जिससेप्रशासकीय अधिकारियों के कार्य करने का स्वरूप बदल गया है। अब केवल सरकारी नीतियों के क्रियान्वयन तक ही गैर-सरकारी एजेंसियों काम सीमित नहीं हैं, उनके माध्यम से नीतियों को अन्तिम व्यक्ति तक पहुँचाया जा रहा है, इसलिए इनकी भूमिका और महत्वपूर्ण होती जा रही है। भारत सहित दुनिया के तमाम देशों में गैर-सरकारी एजेंसियों की बाढ़ सी आ गई है और उनके कार्य करने की शैली एवं ढंग कहीं ना कहीं सरकारी कर्मचारियों से बेहतर है, इसलिए उनकी भूमिका को अब दरकिनार नहीं किया जा सकता है। सही ढंग से नीति-क्रियान्वयन वर्तमान समय में एक चुनौती है। वर्तमान उदारीकरण एवं भूमण्डलकरण तथा कल्याणकारी राज्य होने के नाते सरकार के समक्ष विकास से सम्बन्धितविभिन्न प्रकार की योजनाऐं होती हैं, जिनका सही ढंग से क्रियान्वयन किया जाना अति आवश्यक होता है। दुनिया के तमाम देश इस समस्या से ग्रसित हैं। चूँकिनीति-निर्माण सरकार का कार्य होता है। प्रत्येक देश की विधायिका नीतियों को बनाती है। जितनी मेहनत एवं कठिनाई नीतियों के निर्माण में होती है, उससे कहीं अधिक नीतियों के निष्पादन में होती है। सरकारों के पास वर्तमान समय में मानव संसाधन की कमी के साथ-साथ लालफीताशाही, लेट-लतीफी, भ्रष्टाचार, कामचोरी, समय पर काम ना करना आदि बुराईयां घर कर गयी हैं, जिस कारण सही समय पर नीति-निष्पादन का कार्य सरकार के समक्ष एक बड़ी चुनौती है। उस चुनौती से निपटने के लिए प्रत्येक देश की सरकारें गैर-सरकारी संगठन, स्वैच्छिक संगठन, स्वयं सहायता समूह आदि संगठनों को नीति-क्रियान्वयन में सहयोग की अपेक्षा करती हैं। गैर-सरकारी संगठन वर्तमान समय में विश्व के लगभग सभी देशों में नीतियों व सरकार की बड़ी- बड़ी योजनाओं को सफल बनाने के लिए प्रयासरत हैं। भारत में भी बड़ी-बड़ी योजनाऐं और परियोजनाओं का मॉडल राष्ट्रीय विकास परिषद एवं योजना आयोग के माध्यम से तैयार किया जाता है। केन्द्र, राज्य तथा निचले स्तर पर पंचायतों के माध्यम से उन योजनाओं को अमली जामा पहनाया जाता है, जिसमें गैर-सरकारी एजेंसियां उन नीतियों के क्रियान्वयन में अपनी पूरी क्षमता का परिचय देती हैं। इसके साथ ही साथ गैर-सरकारी एजेंसियाँ आम नागरिकों के बीच जाकर उन नीतियों एवं योजनाओं के विषय में उन्हें जागरूक करती हैं। अतः देश एवं समाज के लिए यह जरूरी है कि एक ऐसे प्रशासनिक ढ़ाँचे का विकास किया जाए जो योजना की चुनौतियों का सामना कर सकें। सामान्य रूप से पंचवर्षीय योजनाओं का प्रशासनिक पक्ष योजनाओं के क्रियान्वयन की ओर ध्यान खींच नहीं पाया है। योजनाओं को सही ढंग से क्रियान्वित करने के लिए नौकरशाही प्रवृत्ति एवं भ्रष्टाचार को सही करना होगा, जिससे नीतियों एवं योजनाओं को

आम आदमी तक थोड़े समय में पहुँचाया जा सकें और जिससे सही समय पर आम नागरिक उन नीतियों का लाभ उठा सकें। चूँकि यह कहा गया है कि जब सही वक्त पर व्यक्ति को योजना का लाभ नहीं मिलता तो बाद में उसका कोई मतलब नहीं रह जाता। जैसे किसानों को सही समय पर खाद, बीज व दवाऐं नहीं मुहैया करायी जाये,तो बाद में उसका कोई मतलब नहीं होता।

13.5 शब्दावली

गैर-सरकारी एजेंसियां(संगठन)- ऐसे संस्थान या संगठन जिन पर सरकार का आंशिक या पूर्ण किसी भी प्रकार का हस्ताक्षेप नहीं होता, आकांक्षाऐं- अपेक्षाऐं, कल्याणकारी राज्य- ऐसा राज्य जहाँ पर सरकार कानून एवं व्यवस्था के साथ जरूरतमंद लोगों के भलाई के लिए उपकरणों एवं सेवाओं का प्रबन्ध करता है, नियोजन- कार्य के लिए व्यवस्थित तैयारी, सार्वजनिक क्षेत्र- सरकारी उपक्रम, मूल्यांकन- परीक्षण करना या जाँचना।

13.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. जिन पर सरकार का नियंत्रण नहीं होता है,**2.**ऐसे राज्य जो कानून एवं व्यवस्था के साथ-साथ सार्वजनिक हित में कार्य करते हैं,**3.**80 हजार,**4.**नीतियों का क्रियान्वयन।

13.7सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. फाड़िया, बी0एल0 (2013), लोक प्रशासन, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।
2. सिंह, बीरकेश्वर प्रसाद (2006), लोक प्रशासन, ज्ञानदा प्रकाशन, नई दिल्ली।
3. लक्ष्मीकांत, एम0 (2000), लोक प्रशासन, टाटा मेक्ग्रॉहिल, नई दिल्ली।
4. कौर, इन्द्रजीत (2010) लोक प्रशासन नए क्षितिज, एस0बी0पी0डी0 पब्लिशिंग हाउस आगरा।

13.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. शर्मा एवं सड़ाना, एम0पी0बी0एल0 (2012) लोक प्रशासन सिद्धान्त एवं व्यवहार, नई दिल्ली।
2. भाम्भरी, सी0पी0,पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन इण्डिया।
3. राय, राजेन्द्र चन्द्रकान्त,गैर-सरकारी संगठन (2010) नई दिल्ली।
4. जैन, पुखराज (2010), लोक प्रशासन, एम0बी0पी0डी0 प्रकाशन, आगरा।

13.9निबन्धात्मकप्रश्न

1. उदारीकरण एवं भूमण्डलीकरण के दौर में नीति-निष्पादन में गैर-सरकारी एजेसियों की कार्य प्रणाली की विवेचना कीजिए।
2. नीति-निष्पादन की प्रक्रिया में गैर-सरकारी एजेंसियों के महत्व पर प्रकाश डालिए।

इकाई- 14 नीतिनिष्पादन की समस्याऐं

इकाई की संरचना

14.0 उद्देश्य
14.1 प्रस्तावना
14.2 नीतिनिष्पादन की प्रमुख चुनौतियां
14.3 नीतिनिष्पादन में आने वाले अवरोध
    14.3.1 जटिल कानूनी शब्दावली
    14.3.2 नीति का स्पष्ट न होना और दूरदर्शिता का अभाव
    14.3.3 वृहद लक्ष्य और अल्पावधि
    14.3.4 योजनाओं के लिए आम जनता के समर्थन का अभाव
    14.3.5 वित्तीय बाधाएँ और समुचित स्टाफ का अभाव
    14.3.6 राजनीजिक दबाव
14.4 नीतिनिष्पादन में सहयोगी संगठनों की भूमिका
    14.4.1 वित्तीय और बुनयादी संरचना की समस्याएँ
    14.4.2 सहयोगी भावना का अभाव
    14.4.3 समय का अभाव
    14.4.4 लक्ष्यों से कार्य में निष्क्रियता
14.5 जनता का नकारात्मक दृष्टिकोण
14.6 भ्रष्टाचार एंव अन्य कारण
14.7 राजनीतिक दबाव
14.8 सारांश
14.9 शब्दावली
14.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
14.11सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
14.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
14.13निबन्धात्मकप्रश्न

14.0 प्रस्तावना

कहा जाता है कि लोक नीतियां वो नीतियां होती हैं, जिनकी कार्यप्रणाली व प्रकृति सार्वजनिक होती है। जैसा कि हम जानते हैं ये एक राजनीतिक प्रक्रिया द्वारा बनायी व संचालित की जाती है। यहाँ पर राजनीतिक प्रक्रिया का आशय सत्ता प्राप्त राजनीतिक दल से है। लोक नीतियांसमाज को बेहतर व सार्वजनिक लक्ष्यों को पूर्ण करने के लिये बनायी जाती है। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि लोक नीतियां कुछ विशेष लक्ष्यों की प्राप्ति से सम्बन्धित निर्णय लेती है। इन लोक नीतियों का तब कोई अर्थ नहीं रह जाता है जब ये सार्वजनिक लक्ष्यों को प्राप्त करने से भटक जाती हैं या अति बिलम्ब के साथ उन लक्ष्यों को पूरा करती हैं। एक निश्चित समयावधि में लक्ष्यों को पूरा ना कर पाने पर लोक नीति का सार्वजनिक उत्थान का ध्येय पूर्ण नहीं हो पाता। सरकार विभागों के लम्बित

कार्यों व धीमी गति की कार्य-प्रणाली को देखते हुए नीतिनिष्पादन हेतु गैर-सरकारी संगठनों का भी प्रयोग करती हैं। इस कार्य में गैर-सरकारी संगठन, स्वैछिक संगठन और दबाव समूह सरकार के साथ मिलकर सरकार के नीतिनिष्पादन में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ऐसा माना जाता है कि नीतिनिष्पादन की पद्धति प्रभावी एवं पर्याप्त नहीं हैं। इसका प्रमुख कारण यह भी है कि नीति निष्पादकों के समक्ष विभिन्न स्तरों पर बहुत सी चुनौतियां तथा समस्याऐं हैं।

14.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- समझ पायेंगे कि नीतिनिष्पादन में आने वाली प्रमुख समस्याएँ क्या हैं।
- नीतिनिष्पादन की प्रक्रिया में प्रमुख अवरोध कौन से हैं, उनसे कैसे निपटा जा सकता है, जिससे कि लोक नीति की प्रक्रिया को त्वरित व प्रभावकारी बनाया जा सके, इस सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- यह समझने का प्रयास करेंगे कि नीति-निष्पादन के कार्य को कैसे सरलता से किया जा सकता है।
- सरकारी कार्यों में नीति-निष्पादन की प्रक्रिया को भ्रष्टाचार कैसे प्रभावित करता है, इस सम्बन्ध में जान पायेंगे।

14.2 नीतिनिष्पादन की प्रमुख चुनौतियां

प्रत्येक नीति निष्पादक के समक्ष प्रत्येक स्तर पर चुनौतियां व समस्याऐं हैं। नीतिनिष्पादन की प्रक्रिया में इन चुनौतियों व समस्याओं का समाधान कैसे किया जाये इस पर सरकार व उसके विभाग एवं सरकार को सहयोग देने वाली संस्थाएं मिल कर कार्य करती हैं और नीतियों को उनके लक्ष्यों तक पहुँचाने का प्रयास करती हैं। जैसा कि हम जानते हैं कि भारत में अधिकतर निष्पादन के कार्य स्थाई कार्यपालिका करती है। सरकारी-तंत्र के शीर्ष अधिकारी व प्रशासक या लोक सेवक इन कार्यों को करने के लिये पर्याप्त ज्ञान व कुशलता रखते हैं। सभी प्रशासक व नौकरशाह अनुभवी व विलक्षण बुद्धि का प्रयोग कर सरकार द्वारा बनायी गयी नीतियों के निष्पादन हेतु सकुशल क्रियान्वयन करने का प्रयास करते हैं, जिससे की नीतियां उन लक्ष्यों तक पहुँच सके जिन लक्ष्यों को केन्द्र में रख कर उन्हें बनाया गया है। भारत में विस्तृत प्रशासनिक व्यवस्था व बड़े स्तर पर नौकरशाहों के होने के बाद भी नीतिनिष्पादन की प्रक्रिया दोषपूर्ण हैजिसके चलते नीतियों के निष्पादन में बिलम्ब होता है। भारत के सन्दर्भ में यदि नीतिनिष्पादन के विलम्ब के कारणों को देखा जाये तो यह प्रश्न उभरता है कि यदि नौकरशाही या प्रशासक कुशल व बुद्धिमान है, साथ ही उनके पास अनुभव है तो हमें नीति-निष्पादन में दोष व लम्बी समयावधि का सामना क्यों करना पड़ता है। इसके लिये हम स्थाई कार्यपालिका को दोषी मानकर मुक्त नहीं हो सकते हैं,बल्कि हमें उन समस्याओं की खोज कर उनका समाधान करना होगा, ताकि हम नीतिनिष्पादन की प्रक्रिया को प्रभावी व निश्चित समयावधि में पूर्ण कर लें।

14.3 नीतिनिष्पादन में आने वाले अवरोध

नीतिनिष्पादन की प्रक्रिया को समुचित लक्ष्यों तक पहुँचाने के लिये सरकारी संस्थानों में कई चरणों से गुजरना पड़ता है। भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में प्रायः हम यह देखते हैं कि विधायिका द्वारा नीति प्रस्ताव पारित होने के बाद केन्द्रीय स्तर पर नीतियों का संवैधानिक अध्यक्ष राष्ट्रपति व राज्यों के स्तर पर बनने वाली नीतियों का अध्यक्ष

राज्यपाल होता है। इनकी सहमति के बाद ही किसी नीति का निष्पादन किया जाना तय होता है,जिसे नीति विवरण के नाम से जाना जाता है। इस विवरण में नीति के उद्देश्यों व लक्ष्यों को स्पष्ट किया जाता है, तथा उन लक्ष्यों व उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये कार्य राष्ट्रपति व राज्यों में राज्यपाल की सर्वसम्मति से प्रारम्भ किया जाता है। प्रायः यह देखते हैं कि नीतिनिष्पादन की प्रक्रिया में कई अवरोध देखने में आते हैं। जिनको निम्न रूप से देख सकते हैं-

14.3.1 जटिल कानूनी शब्दावली

किसी भी सरकारी कार्य को जो कि जनहित में सरकार करना चाहती है, वह सरलता व सहज भाषा में होनी चाहिये,ताकि वह व्यक्ति जो उसका लाभ लेना चाहता है वह भी यह जान पाये कि उसे सरकार क्या व किस तरह का लाभ दे रही है? सरकारी कामकाज की भाषा इतनी जटिल होती है कि उसे आम व्यक्ति नहीं समझ सकता है। नीतिनिष्पादन की प्रक्रिया में जटिल कानूनी भाषा भी अवरोध का कारण बन जाती है। सरकारी भाषा जानने के लिये कानून के जानकार व्यक्ति की आवश्यकता पड़ती है। ऐसा भी देखा जाता है कि नीति विवरण या सराकारी कार्य की भाषा स्पष्ट शब्दों में नहीं लिखी होती है, जिस कारण सरकारी प्रशासन के उच्चाधिकारियों द्वारा इसे जारी कर सम्बन्धित संस्थाओं या सहयोगी संगठनों को दे दिया जाता है,जो इन कार्यों के निष्पादन के लिये प्रशासन पर निर्भर रहती हैं।

14.3.2 नीति का स्पष्ट ना होना और दूरदृष्टिता का अभाव

नीति-निष्पादन में दूसरा सबसे बड़ा अवरोध नीति का स्पष्ट ना होना व कार्मिकों या सहायकों में दूरदृष्टिता का अभाव है। कई बार ऐसा भी देखने में आया है कि सरकारी नीति जो सार्वजनिक हित के लिये बनायी गयी है वो स्पष्ट व्याख्या नहीं करती है, जिस कारण सहायक सेवक भी उस नीति को समझने में अक्षम हो जाते हैं। नीति-निर्धारक की नीतियों के निर्माण के समय,स्पष्ट दूरदृष्टि व दीर्घकालीन नियोजन की स्थितियां पारदर्शी होनी चाहिये। अत्यधिक नीतियां व उनका विरोध नीतिनिष्पादन की प्रक्रिया के लिये घातक सिद्ध हो सकती है। दूसरी तरफ कई-कई बार ऐसा भी देखा जाता है कि सरकारी भाषा को सहायक कर्मी अपने तरीके से समझने व गलत व्याख्या करके उसका समुचित लाभ लाभार्थी को नहीं दिला पाते हैं,जो उनकी दूरदृष्टिता के अभाव को दर्शाती है।

14.3.3 वृहद लक्ष्य व अल्पावधि

सरकार का प्रमुख अंग होता है- कार्यपालिका, जिसका प्रमुख कार्य होता है,सरकारी योजनाओं को क्रियान्वित करना। सरकार जब अपनी योजनाओं को बनाती है तो वह इन योजनाओं को आमजन तक पहुँचाने के लिये कार्यपालिका-तंत्र का प्रयोग करती है। कभी-कभी हम ये भी देखते हैं कि सरकार अपने वृहद लक्ष्यों को लेकर योजना का निर्माण तो करती है, लेकिन उसकी कार्य को करने की समयावधि कम रखती है,जिससे वह कार्य या तो पूर्ण नहीं हो पाता या अपने लक्ष्य को प्राप्त करने से वंचित रह जाता है, जिससे आम जनता को लाभ का हक नहीं मिल पाता है। दूसरी तरफ यह भी देखा गया है कि वृहद लक्ष्य वाली योजनाएं निश्चित समयावधि में पूर्ण नहीं हो पाती और सरकारें बदल जाती हैं, जिससे लाभान्वित योजनाऐं लक्ष्य विहीन हो कर धीरे-धीरे खत्म हो जाती है।

14.3.4 योजनाओं के लिए आम जनता के समर्थन का अभाव

सरकारें जो योजनाऐंजन-कल्याण के लिये बनाती है,उन योजनाओं को आमजन का समर्थन नहीं मिल पाता है, जिस कारण ऐसी योजनाऐं ठन्डे बस्ते में चली जाती हैं। योजनाओं को या सरकारी आदेशों को समर्थन ना मिल पाने के कारण भी नीतिनिष्पादन की प्रक्रिया में बांधा आती है।

14.3.5 वित्तीय बाधाएं व समुचित स्टाफ का अभाव

नीतिनिष्पादन की प्रक्रिया में सबसे बड़ी चुनौती के रूप में वित्तीय बाधाओं व समुचित स्टाफ का ना होना भी है। प्रायः ऐसा भी देखा जाता है कि सरकारी कार्यों में वित्तीय संकटों के कारण कई योजनाऐं या तो प्रारम्भ नहीं हो पाते हैं या फिर समुचित व तकनीकी व जानकार स्टाफ के ना होने के कारण वो कार्य धरे के धरे रह जाते हैं और जो लक्ष्य सरकार ने रखें हैं उन लक्ष्यों तक यह योजनाऐं नहीं पहुँच पाती हैं। नीतियों के निष्पादन की प्रक्रिया स्टाफ के पर्याप्त होने के कारण भी सकुशल सम्पन्न नहीं हो पाती हैं। शासन को पार्याप्त तथा पारदर्शी बनाने के लिये और नीति निष्पादक बिना किसी आरोपों के कार्य कर सके,इसके लिये कई सहयोगी संगठनों को बनाया गया है जो शासन की कार्य प्रणाली में सहयोग कर नीतिनिष्पादन की प्रक्रिया को सुगम बना सकें।

14.3.6 राजनीतिक दबाव

कई बार सरकार ऐसी योजनाओं व कार्यों में पहल करती है,जो सभी के लाभ व हित के लिये होती है। परन्तु इन कार्यों में राजनीतिक व्यक्तियों का प्रभाव पड़ने लगता है,जिससे सरकारी कार्य-योजनाऐं प्रभावित होने लगती हैं। राजनीतिक दबाव के कारण सरकारी अधिकारी व कर्मचारी भी प्रभावित होते हैं, जिसके चलते वह अपने कार्यों को पूर्ण मनोयोग के साथ नहीं कर पाते हैं। दूसरी ओर अत्यधिक राजनीतिक दबाव के कारण सरकारी कार्यों को मिलने वाला राजनीतिक सहयोग भी पूर्ण रूप से नहीं मिल पाता, जिस कारण योजनाऐं या सरकारी कार्य अपने लक्ष्य तक पहुँचने में वंचित हो जाते हैं। सारांशतः हम यह कह सकते हैं कि राजनीतिक दबाव नीति-निष्पादन की प्रक्रिया में सबसे बड़ी बांधा है।

14.4 नीति-निष्पादन में सहयोगी संगठनों की भूमिका

जैसा कि हम जान चुके हैं कि नीति-निष्पादन स्थाई कार्यपालिका का कार्य होता है। किसी भी सरकारी कार्य को क्रियान्वित करने के लिये जो नीति बनायी जाती है, उसको संचालित करने के लिये सहयोगी संगठनों की भी आवश्यकता होती है। ऐसा भी कभी-कभी देखा जाता है कि नीति-निष्पादन प्रक्रिया सहयोगी संगठनों के ठीले रवैये या आपसी तालमेल ना होने के कारण भी प्रभावित होती है।ऐसी स्थिति में निष्पादकों पर उत्तरदायित्वों का अतिरिक्त बोझ पड़ जाता है। निष्पादक को नीतियों के निष्पादन में सहायक सेवाओं की कमी होने के कारण असंख्य समस्याओं का सामना करना पड़ सकता है। निष्पादन की प्रक्रिया में सहयोगी स्तर पर आने वाली समस्याओं को हम निम्न स्तर पर अध्ययन कर सकते हैं।

14.4.1 वित्तीय और बुनियादी संरचना की समस्याऐं

सामान्यतः हम यह देखते हैं कि निष्पादक नीति के क्रियान्वयन के लिये योजना तैयार करता है। किसी योजना को तैयार करने के लिये भी हमें योजना के क्रियान्वयन से पूर्व भी वित्त की आवश्यकता होती है। कई बार सार्वजनिक क्षेत्र में ऐसा भी देखा जाता है कि बजट समय से ना मिल पाने के कारण योजना के निमार्ण व निष्पादन की क्रिया इतनी मंद हो जाती है, जिससे कि योजना जिसको लेकर बनायी जाती है उसमें निष्क्रियता आ जाती है या वो योजना उतनी प्रासंगिक नहीं रह पाती जितनी की वो विचार करते समय थी। दूसरा बड़ा कारण यह भी है कि नियोजन के निष्पादन स्तर पर पहुँचने के लिये वित्तीय तथा उचित संसाधनों पर निर्भर रहना पड़ता है। वित्त ही

किसी नियोजन को निष्पादन करने के लिये आवश्यक व बुनियादी संसाधन उपलब्ध करवाता है। जैसा कि हम जानते हैं कि प्रत्येक नये कार्यक्रम को पूर्ण करने के लिये धन की आवश्यकता होती है, जिसके लिये नीति निर्माणकर्ता नीति लक्ष्यों को क्रियान्वित करने के लिये धन के उपबन्धों का निमार्ण करता है। लेकिन धन के लिये बनाया गया साधारण उपबन्ध पर्याप्त नहीं होता, क्योंकि स्वीकृत धनराशि निष्पादक ऐजेंसी तक समय पर नहीं पहुँच पाती है।

14.4.2 सहयोगी भावना का अभाव

हम इस बात पर पहले ही चर्चा कर चुके हैं कि नीतियों का निष्पादन सामान्यतः निचले स्तर से ही होता है। जो ऐजेन्सी कार्ययोजना में सहयोग करती है,वह मुख्य रूप से मार्गदर्शन हेतु कार्यपालिका पर ही निर्भर रहती है। कार्यदायी एजेन्सियों के मुख्य कार्यपालिका के निर्देशन में कार्य करने के कारण, निचले स्तर पर जहाँ,कार्य योजना का क्रियान्वयन होना है, उनके साथ सहयोगी व सहज नहीं हो पाती हैं,क्योंकि उन्हें सारे कार्य उपर के आदेशों के आधार पर करने होते हैं। यहाँयह कह सकते हैं कि निचले स्तर पर कार्य करने के लिये उन्हें पूर्ण रूप से स्वतंत्र नहीं बनाया गया है। दूसरी तरफ मुख्य कार्यपालिका का कार्यालय स्टाफ,क्षेत्रीय कार्यालयों द्वारा मांगी गयी जानकारी को तुरन्त नहीं देता हैं।

14.4.3 समय का अभाव

जो भी नीति बनयी जाती है, उसका पूर्ण लाभ लेने के लिये निश्चित समयावधि होना भी लाभकर नहीं होता है। कई बार नीति का निर्धारण त्वरित गति से कर दिया जाता है, लेकिन उसका लाभ सार्वजनिक जन-जीवन पर धीरे-धीरे पड़ता है और उस नीति के सही परिणाम काहम दीर्घकाल में ही अध्ययन कर पाते हैं। लेकिन कई बार हमारे निष्पादकों केउपर इतना दबाव होता है कि वो नीति-निर्माण की प्रक्रिया को इतनी त्वरित गति से करते हैं कि योजना का मूल तत्व या तो छूट जाता है या उस पर विचार ही नहीं हो पाता है।

14.4.4 बड़े लक्ष्यों से कार्य में निष्क्रियता

हम यह जानते हैं कि किसी भी लोकतांत्रिक व्यवस्था में सबसे बड़ी शक्ति जनता के पास होती है और हमारे नीति-निर्माता जनता को लुभाने के लिये आये दिन नई-नई घोषणाऐं करते रहते हैं, क्योंकि वो जनता द्वारा चुने जाते हैं और जनता के प्रतिनिधि होते हैं। जनता को दिखाने के लिये कि उन्होंने क्या किया, ताकि उनकी व उनके दल की छवि जनता के बीच में अच्छी बन सके,इसके लिये वो नई-नई नीतियों के साथ जनता तक अपना अत्यधिक काम पहुँचाना चाहते हैं। इसके लिये वो बड़ी-बड़ी योजनाओं की घोषणा करते हैं,जिससे निष्पादकों के उपर अत्यधिक कार्यभार व बड़े लक्ष्यों का दबाव आ जाता है।जिसके कारण वो एक कार्य को पूर्ण मनोवेग के साथ नहीं कर पाते हैं और उनके कार्य में निष्क्रियता आ जाती है। साथ ही कार्य की गुणवत्ता में भी इसका प्रभाव पड़ता है।

14.5 जनता का नकारात्मक दृष्टिकोण

कभी-कभी ऐसा भी देखने में आया है कि सरकार द्वारा बनायी गयी समस्त नीतियां जनता या लाभार्थी द्वारा पूर्ण रूप से नहीं स्वीकारी जाती हैं। यदि जनता द्वारा नीतियों के लिये आवश्यक आज्ञाकारी सम्मान दर्शाया जाता है तो ये माना जाता है कि सरकार की आधी से अधिक समस्याऐं समाप्त हो जाती हैं। जब कोई योजना बनायी जाती है तो नीति-निर्माता जनता को केन्द्र में रख कर कार्य करता है, लेकिन कई बार ऐसी परिस्थितियां आ जाती हैं कि जनता योजनाओं को अपने लिये लाभकारी ना मान कर, बिना मूल्यांकन करे खारिज कर देती है,जिससे निष्पादकों के सामने एक बड़ी समस्या ऐसी योजनाओं के क्रियान्वयन को लेकर आ जाती है। हम जानते हैं कि एक

लोकतांत्रिक प्रणाली में सरकार ना केवल लोगों के द्वारा निर्मित होती है,बल्कि लोगों के लिये भी होती है। इसलिये नीति-निर्माता प्रयास करता है कि जिस जनता के बीच से वो चुन कर आया है,उस जनता को वो किसी भी प्रकार से नाराज ना करे। ऐसी स्थिति में नीति निष्पादकों के उपर नीति निर्माताओं द्वारा एक दायित्व ये आ जाता है कि वो नीतियों को ऐसे संचालित करें,जिससे नागरिकों को लाभ भी हो और उन्हें न्याय एवं समय-समय पर जो भी उनका देय होता है वो भी मिलता रहे। जब नीति निष्पादक जनता के सीधे सम्पर्क में आ जाते हैं तब जनता नीति निष्पादकों पर अधिक निर्भर हो जाती है, क्योंकि जन प्रतिनिधि जनता के बीच जिन योजनाओं को घोषित करते हैं, नीति निष्पादक उन योजनाओं को क्रियान्वित करते हैं। ऐसी स्थिति में नीति निष्पादक ये प्रयास करता है कि जनता में उनके कार्यों को लेकर नकारात्मक दृष्टिकोण उत्पन्न ना हो जाये।

14.6 भ्रष्टाचार एवं अन्य कारण

आज के युग में नीति-निष्पादन की प्रक्रिया में भ्रष्टाचार भी एक बड़ी समस्या के रूप में हमें देखने को मिलता है। नीति-निष्पादन की क्रिया में वित्तीय हित नीति निष्पादकों को भ्रष्टाचार की ओर ले जाने के लिये प्रेरित करते हैं। कई ऐसे अधिकारी जो वित्तीय लोभ में आकर भ्रष्टाचार करते हैं, जिससे नीति-निष्पादन की प्रक्रिया प्रभावित होती है। सरकारी-तंत्र में हमें ऐसे अधिकारियों का उदाहरण अक्सर सुनने और देखने को मिल जाते हैं। निहित हित निष्पादक को ही नहीं,वरन् निष्पादन के कार्यों को भी प्रभावित करते हैं। निहित हित अधिकारियों को भ्रष्ट बनाते हैं। कई बार ऐसा देखा जाता है कि जिसके पास असीमित शक्ति, अनेकानेक स्रोत व संसाधन होते हैं, ऐसे निष्पादकों में लालफीताशाही की प्रवृति पनपने के पर्याप्त अवसर होते हैं,जिसके फलस्वरूप कई अधिकारी भ्रष्टाचार की चपेट में आ जाते हैं। दूसरी तरफ इसका एक प्रमुख कारण यह भी है कि सकारी संगठनों में कार्मिकों के मनोबल को बढ़ाने के लिये आर्थिक प्रयास नहीं किये जाते हैं। कार्मिकों से भरपूर कार्य की आशा तो की जाती है, लेकिन आर्थिक लाभ को लेकर सरकार उदासीन रहती है,जिससे कार्यप्रणाली में भ्रष्टाचार आसानी से घर कर जाता है। ऐसे कार्मिकों का मनोबल गिर जाता है और मनोबल की कमी के कारण नीतियों के निष्पादन में व कार्य सम्पादन में वो अपनी पूर्ण गुणवत्ता नहीं देते, जिससे कार्य जिस स्तर का होना चाहिये उस स्तर का नहीं हो पाता है। इसे भी हम एक प्रकार का भ्रष्टाचार ही कह सकते हैं। हम जानते हैं कि सरकारी-तंत्र में अधीनस्थ अधिकारी वरिष्ठ अधिकारी के प्रति औरकार्य के प्रति जबावदेह होते हैं। वरिष्ठ अधिकारी उन्हें नीति-निष्पादन का कार्य सौंपता है, लेकिन समन्वय की कमी के कारण कार्ययोजना सफल नहीं हो पाती और कई बार ऐसा भी देखा गया है कि अधीनस्थ व वरिष्ठ अधिकारी के बीच समन्वय अच्छा होता है, लेकिन वरिष्ठ या अधिनस्थ अधिकारी के कार्य के बीच में स्थानान्तरण हो जाने के कारण कार्ययोजना प्रभावित हो जाती है।

14.7 राजनीतिक दबाव

निष्पादकों को राजनीतिक नेताओं, सत्ताधारियों व विपक्ष के लोगों के नेताओं के बीच रह कर तालमेल के साथ काम करना पड़ता है। कई बार राजनीतिक दलों के नेता कार्य-प्रणाली में अपना सीधा दखल रखते हैं, जिससे नीति निष्पादकों को राजनीतिक दबाव को सहना पड़ता है। सत्ताधारी राजनीतिज्ञ कार्ययोजना को अपने मस्तिष्क व कल्पना के अनुसार चलाना चाहते हैं। वो यह जानते हैं कि इस कार्य के नीति-निर्माता वो खुद या उनके समर्थन की सत्ताधारी राजनीतिक दल है, इसलिये वो इस कार्य को अपना अधिकार समझते हैं। सरकार के कार्यों के बीच सीधे दखल करने में वो जनता के बीच में अपनी वाहवाही लूटना चाहते हैं और जनता को अधिक से अधिक लाभ देने का दावा करना अपना दायित्व समझते हैं। जब राजनीतिक नेता सरकार के कार्यों को करने वाली ऐजेन्सियों पर

अपना दबाव बनाते हैं तो कार्य प्रभावित होता है और कार्य में अवरोध उत्पन्न हो जाता है। कार्य की गति देखना उसकी गुणवत्ता की जाँच करना उचित है। लेकिन कार्य को करने में राजनीतिक व्यवधान डालना उचित नहीं होता है, जिससे नीति-निष्पादन की प्रक्रिया बांधित होती है।

अभ्यास प्रश्न-

1. भारत में अधिकतर नीति-निष्पादन का कार्य कौन करता है?
2. नीति-निष्पादन में आने वाले अवरोध क्या हैं?
3. लोकतांत्रिक व्यवस्था में सबसे बड़ी शक्ति किसके पास होती है?

14.8 सारांश

इस इकाई में हमने नीतिनिष्पादन की समस्याओं को गहता से चिन्तन किया। हमने इस इकाई के माध्यम से समझा कि नीति-निष्पादन को किस तरह के व्यवधानों से होकर अपना कार्य सकुशला के साथ जनता के हित में करना होता है। एक तरफ जहाँ सरकारें नई नीतियां बनाती हैं, ठीक दूसरी तरफ सरकारी, गैर-सरकारी व राजनीतिक समस्याएं नीतिनिष्पादन की प्रक्रिया में बांधक हो जाती हैं। वो कौन सी बाधाऐं हैं और किस प्रकार नीतिनिष्पादन की प्रक्रिया में अपना प्रभाव डालती हैं, इन सबका अध्ययन हमने इस अध्याय में किया।

14.9 शब्दावली

पूर्ण मनोवेग- पूरे मन से किसी कार्य को करना, निहित हित- स्वयं के हित, अनेकानेक- एक से अधिक या अनेक, वृहद- बड़ा, अल्पावधि- कम समय, निष्क्रियता- सक्रिय ना होना या सजग ना होना, अवरोध- रूकावट, क्लिष्ट- कठिन

14.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. स्थाई कार्यपालिका,**2.** जटिल कानूनी शब्दावली, नीति का स्पष्ट ना होना और दूरदर्शिता का अभाव,**3.** जनता के पास

14.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारत की राजव्यस्था- एम0 लक्ष्मीकांत, मैग्रोहिल प्रकाशन।
2. लोक प्रशासन- डॉ0 बी0 एल0 फड़िया, साहित्य भवन प्रकाशन।
3. लोक सम्पर्क- हरियाणा साहित्य अकादमी।
4. साभार- लोक नीतिः इन्दिरा गॉधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

14.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारत की राजव्यस्था- एम0 लक्ष्मीकांत- मैग्रोहिल प्रकाशन।
2. लोक प्रशासन – डॉ0 बी0एल0 फड़िया- साहित्य भवन प्रकाशन।

14.13 निबन्धात्मकप्रश्न

1. नीतिनिष्पादन की प्रक्रिया में बांधा डालने वाले कारणों की विस्तृत चर्चा करें।
2. नीतिनिष्पादन की प्रमुख चुनौतियां क्या हैं?
3. जनता का नकारात्मक दृष्टिकोण क्या है?